
'हंस' की नियमावली

'हंस' अपने पाठकों को सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों पर छोटे तथा भावपूर्ण लेख देता है। यह उपरोक्त विषयों पर जितना साहित्य प्रकाशित होता है उन सबकी आलोचना तथा प्रत्यालोचना भी अपने पाठकों के सम्मुख रखता है।

यह पत्र हर मास के पहले सप्ताह में प्रकाशित होता है।

कृपया सारी लिखा-पढ़ी इस पते से करें—

'हंस' कार्यालय,
बनारस

ऑर्डर फ़ार्म

श्री व्यवस्थापक जी,
'हंस',
बनारस।

कृपया निम्नलिखित नाम को 'हंस' की ग्राहक श्रेणी में एक वर्ष / छः मास के लिए अक्तूबर अंक / अमुक अंक / नए अंक से दर्ज कर लीजिए जिसके लिए मैं ———— रुपए भेजता हूँ।

नाम ————

पता ————

हस्ताक्षर ————

तिथि

'हंस' का चन्दा

देश में		विदेश में
६)	एक वर्ष	१२ शिलिंग
३।।)	छः मास	७।। शिलिंग
।।=)	एक मास	१।। शिलिंग

हमारी दूसरी किताबें !

१—गरम तलवार

श्री चांपसी विट्ठलदास उद्देशी के प्रसिद्ध गुजराती उपन्यास 'ताती तलवार' का सुन्दर अनुवाद १।)

२—नारी-हृदय

श्रीमती शिवरानीदेवीजी की कहानियों का संग्रह १)

३—फाँसी

श्री जैनेन्द्रकुमार की कहानियों का संग्रह ।।।)

४—रूपराशि

श्री रामकुमार वर्मा की भावपूर्ण कविताएँ १)

५—बिखरे फूल

श्री राजकुमार रघुवीरसिंह के भावपूर्ण उद्‌गार १)

श्री प्रेमचन्दजी की कृतियाँ

उपन्यास

१. प्रतिज्ञा—(दूसरी आवृत्ति) .... १।)
२. कायाकल्प—(,, ,,) .... ३)
३, ग़बन— .... ३)
४, कर्मभूमि— .... ३)
५. गो-दान .... ४)

कहानियाँ

६. प्रेरणा .... १।)
७. मानसरोवर : १ .... २।)
८. मानसरोवर : २ .... २।)
९. प्रेमप्रतिमा .... २)

नाटक

१०. प्रेम की वेदी .... ।।।)

सभी प्रतिष्ठित पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्य

सरस्वती-प्रेस, बनारस।

मानसरोवर

[दो भाग]

लेखक—प्रेमचन्द

५० नई कहानियों का संग्रह

पहले भाग में—

१. अलग्योझा, २. ईदगाह, ३. माँ, ४. बेटोंवाली विधवा, ५. शान्ति ६. नशा, ७. स्वामिनी, ८. ठाकुर का कुआँ, ९. बड़े भाई साहब, १०. घरजमाई, ११. पूस की रात, १२. झाँकी, १३. गुल्ली-डंडा, १४. ज्योति, १५. दिल की रानी, १६. धिक्कार, १७. कायर, १८. शिकार, १९. सुभागी, २०. अनुभव, २१. लांछन, २२. आखिरी हीला, २३. तावान, २४. घासवाली, २५. गिला, २६. रसिक संपादक, २७. मनोवृत्ति।

दूसरे भाग में—

१. कुसुम, २. खुदाई फ़ौजदार, ३. वेश्या, ४. चमत्कार, ५. मोटर की छींटें, ६. क़ैदी, ७. मिस पद्मा, ८. विद्रोही, ९. उन्माद, १०. न्याय ११. कुत्सा, १२. दो बैलों की कथा, १३. रियासत का दीवान, १४. मुफ्त का यश, १५. बासी भात में खुदा का साझा, १६. दूध का दाम, १७. बालक, १८. जीवन का शाप, १९. डामुल का क़ैदी, २०. नेउर, २१. गृह-नीति, २२. क़ानूनी कुमार, २३. लॉटरी, २४. जादू।

प्रति भाग ४०० पृष्ठ, मूल्य ३॥)

सभी प्रतिष्ठित पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ प्राप्त, अपने स्थानीय पुस्तक विक्रेता से माँगिए, अन्यथा हमको लिखिए—

सरस्वती-प्रेस,

बनारस कैंट

हंस

अक्टूबर १९३६ वर्ष—७ : अंक—१ आश्विन १९९३

अगति

श्री मैथिलीशरण गुप्त

कैसे तुझे चुगाऊँ,
हंस, कहाँ मैं मुक्ता पाऊँ?
व्योम-विहारी को इस भू पर,
मैं क्यों कर बहलाऊँ?
हाय! न जाने, किस मानस से
उड़ कर ऊला ऊला,
यहाँ आ पड़ा इस पिञ्जर में
तू पथ भूला भूला,
यह विवेक बलि जाऊँ!
हंस, कहाँ मैं मुक्ता पाऊँ?
निरख-निरख वे अरुण चंचु-नख,
विमल वर्ण में रीझा,
पाला तुझे कहाँ से मैंने,
अब मन-ही-मन खीझा।

क्या मुँह लेकर आऊँ?
हंस, कहाँ मैं मुक्ता पाऊँ?
हैं अभाव के अश्रु यहाँ तो,
सुन, ओ मोती वाले,
पीना हो तो पी लो इनको,
खाना हो तो खा ले!
ले, तो भर-भर लाऊँ।
हंस, कहाँ मैं मुक्ता पाऊँ?
अब भी द्वार खुला है तेरा,
ऊँचे उड़ जा भाई,
लेजा मेरी अगति गिरा ही,
जहाँ शून्यता छाई।
अब क्या रोऊँ-गाऊँ?
हंस, कहाँ मैं मुक्ता पाऊँ?

सरल-जीवन*

श्री रिचर्ड बी० ग्रेग

(१) विषय-प्रवेश और व्याख्या

अधिकांश बड़े-बड़े धर्मों के संस्थापकों ने—जैसे ईसा मसीह, बुद्ध, लाओत्से, मूसा और मुहम्मद—सदा लोगों को यही उपदेश दिया है कि स्वेच्छापूर्वक सरल और सीधा-सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए और स्वयं भी उन्होंने स्वेच्छापूर्वक सदा इसी प्रकार का जीवन निर्वाह किया है। सन्त फ्रान्सिस, जान ऊलमैन और हिन्दू ऋषियों, इबरानी पैग़म्बरों तथा मुसलमान सूफ़ियों ने भी लोगों को यही उपदेश दिया है, बहुत से कलाकारों और वैज्ञानिकों की भी यही शिक्षा रही है और लेनिन तथा महात्मा गान्धी-सरीखे बड़े-बड़े आधुनिक नेता भी लोगों को यही उपदेश देते हैं। बड़े-बड़े सैनिकों और साधु-संन्यासियों तथा संसार-त्यागियों ने भी स्वेच्छापूर्वक सरलता का जीवन व्यतीत किया है और ये सब ऐसे लोग हैं, जिनका संसार पर बहुत बड़ा और विस्तृत प्रभाव रहा है। कई बड़े-बड़े आधुनिक समाजों और संघटनों के सदस्यों के लिए भी सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करना आवश्यक होता है।

अतः यह स्पष्ट ही है, कि इस उपदेश में कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्व है; परन्तु आज-कल संसार में अनेक प्रकार की वस्तुएँ बहुत अधिक मान में तैयार होती हैं और उनका खूब व्यापार होता है, जिसके कारण हमारे सामने बहुत सी और तरह-तरह की चीजें आती रहती हैं, अनेक प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार होते रहते हैं और आज-कल के शिल्प-प्रधान देशों में जीवन-यापन की जटिलताएँ बहुत बढ़ गई हैं; इसलिए बहुत से लोगों के मन में यह सन्देह होने लगा है कि यह सिद्धान्त ठीक है या नहीं और इसका पालन करना वाजिब है या नहीं। हमारा आज-कल का मानसिक वातावरण सरलता का महत्व समझने अथवा सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए उपयुक्त और अनुकूल नहीं है और लोगों की यह धारणा हो गई है, कि जो सन्त-महात्मा तथा समय-समय पर होनेवाले प्रतिभाशाली पुरुष सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, वह उनकी एक भूल या त्रुटि ही है और बाकी हम सब लोगों के लिए सरलतापूर्ण जीवन का कोई महत्व या मूल्य नहीं है।

आखिर ठीक बात क्या है?

परन्तु इस विषय का और अधिक विवेचन करने से पहले हमें और भी अधिक

---

* अगस्त-अक्तूबर १९३६ की 'विश्व-भारती' में प्रकाशित लेखक के एक लेख का अनुवाद।

स्पष्ट रूप से यह समझ लेना चाहिए कि हम किस विषय पर विचार कर रहे हैं। हम यहाँ उस प्रकार के वैराग्य का विचार नहीं कर रहे हैं, जिसमें इन्द्रियों का दमन करना पड़ता है। स्वेच्छा-सिद्ध सरलता से हमारा यह अभिप्राय नहीं है, कि हम इन्द्रियों के सब विषयों का बिलकुल त्याग ही कर दें अथवा उनका बहुत ही थोड़ा भोग करें। सरलता तो बिलकुल सापेक्ष्य होती है और जल-वायु, रीति-रवाज, संस्कृति तथा व्यक्तिगत आचरण आदि पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए भारत में केवल उन लोगों को छोड़कर जो हर बात में पाश्चात्यों का ही अनुकरण करना चाहते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह धनवान् हो और चाहे दरिद्र, जमीन पर ही बैठना पड़ता है और यहाँ कुरसियाँ बिलकुल नहीं होतीं। अमेरिका के बहुत से लोग, चाहे ग़रीब हों चाहे अमीर, यही समझते हैं कि हमारे लिए एक मोटर-गाड़ी रखना ज़रूरी है और बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो अपने यहाँ टेलीफोन रखना भी हद से ज़्यादा जरूरी समझते हैं। एक अमेरिकन के लिए जो बात सादगी में दाखिल है, वह एक चीनी किसान के लिए कभी सादगी हो ही नहीं सकती। स्वेच्छा-जन्य सरलता के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इसके लिए इस बात की ज़रूरत होती है कि आदमी अपने मन में सच्चा और ईमानदार रहे और ऊपरी तड़क-भड़क से बिलकुल बचता रहे और उन बहुत-सी ऐसी बातों को छोड़ दे जिनका जीवन के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि में कोई विशेष उपयोग नहीं होता, अथवा जो इसके लिए अनुपयुक्त हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हम अपनी जीवनी-शक्ति तथा वासनाओं को व्यवस्थित और नियन्त्रित रखें और कुछ विषयों में इसलिए आंशिक नियन्त्रण रखें, जिसमें दूसरे और अधिक उपयोगी विषयों में बहुत कुछ काम कर सकें। इसमें एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए जीवन को जान-बूझकर व्यवस्थित और संघटित करने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए एक सीधी-सी बात ले लीजिए। जिन लोगों ने अब तक हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयत्न किया है, उन्हें बरसों पहले से अपने सारे विचार और सारी शक्तियाँ इसी कार्य की योजनाएँ प्रस्तुत करने में लगानी पड़ी हैं और जब उन्होंने पर्वत की चढ़ाई आरम्भ की है, तब उन्होंने रत्ती-भर भी ऐसा सामान अपने साथ नहीं रखा है जो निहायत ज़रूरी न हो।

जीवन में अलग-अलग लोगों के अलग-अलग उद्देश्य हुआ करते हैं और इस वास्ते एक मनुष्य के उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो बात उपयुक्त होती है, वह सम्भव है कि दूसरे मनुष्य के उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयुक्त न हो; लेकिन फिर भी हम यह बात बहुत सहज में समझ सकते हैं कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपने उद्देश्यों को इस प्रकार व्यवस्थित, क्रम-बद्ध और सरल कर ले कि एक उद्देश्य सहज में बाकी सब उद्देश्यों से बढ़कर हो जाय, तो हमारे व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है। और फिर यदि प्रत्येक मनुष्य अपने

बाह्य जीवन को अपने उद्देश्यों की नवीन व्यवस्था के अनुसार फिर से संघटित करे और उन सब पदार्थों तथा कार्यों का परित्याग कर दे, जो उस मुख्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए अनुपयुक्त या अनावश्यक हों, तो हमारे व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन में और भी बड़ा परिवर्तन हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपने लिए यह निश्चित कर सकता है कि मुझे अपने जीवन में कहाँ तक और कितनी सरलता लानी चाहिए ; परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का अर्थ अब इतना स्पष्ट हो गया है कि उसका ठीक तरह से विवेचन किया जा सकता है। अब यह बात दूसरी है कि कौन उस सरलता का कहाँ तक उपयोग कर सकता है और कौन कहाँ तक नहीं कर सकता।

(२) शंकाएँ

साधारणतः आज-कल बहुत से लोग यही समझते हैं, कि सरलतापूर्ण जीवन-यापन पर अधिक ज़ोर देना भूल ही है, इसलिए आगे बढ़ने से पहले हमें इस सम्बन्ध की शंकाओं पर कुछ विचार कर लेना चाहिए।

सबसे पहली बात तो यह है कि पुराने ज़माने में चीज़ें बनती ही बहुत कम थीं ; और आज-कल मशीनों से बहुत तरह की चीज़ें बनने लग गई हैं, जिससे वह पुरानी कठिनता दूर हो गई है। आज-कल विज्ञान, आविष्कार, शिल्प, व्यापार और रेल, जहाज़ आदि के कारण ऐसे साधन प्रस्तुत हो गये हैं, जिनसे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम खाद्य पदार्थ, कपड़े-लत्ते, मकान आदि बनाने की सामग्री, औज़ार तथा उपकरण और ऐश-आराम की चीज़ें बहुत अधिक मान में प्रस्तुत होने लगी हैं और सहज में बहुत दूर-दूर तक पहुँच जाती हैं। इन सब बातों का जैसा सुभीता लोगों को आज-कल है, वैसा आज तक कभी हुआ ही नहीं था। हम सिर्फ दो-चार दूकानों में ही घूमकर और सब तरह का माल बेचनेवाले किसी बहुत बड़े दूकानदार का सूचीपत्र देखकर ही अच्छी तरह यह बात समझ सकते हैं कि आज-कल दुनिया में कितनी तरह की चीजें तैयार होती हैं और कितनी सुगमता से हमें मिल सकती हैं ; फिर उन सब चीजों का तो ज़िक्र ही क्या है जो हमें हर बाज़ार में दिखाई पड़ती हैं। हेनरी फोर्ड का यह विचार हमें समझदारी का जान पड़ता है, कि ज्यों-ज्यों लोगों की इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं और ज्यों-ज्यों उन इच्छाओं की पूर्ति के साधन बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों सभ्यता भी बराबर बढ़ती जाती है। इश्तहारबाज़ी में जो इतना ज्यादा कागज और स्याही खर्च की जाती है, उसे देखकर हमारा यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है। प्रत्येक शिल्प-प्रधान देश की आर्थिक तथा सामाजिक दृढ़ता केवल इसी आशा पर अवलम्बित जान पड़ती है, कि नित्य बहुत अधिक संख्या में जो चीज़ें तैयार होती हैं, उनकी बिक्री के लिए बाज़ार दिन-पर-दिन बढ़ते ही जायँगे। रूस का भी और पूँजीदार राष्ट्रों का भी यही लक्ष्य है।

जान पड़ता है कि सारा संसार इसी धारणा का वशवर्ती हो रहा है। क्या ऐसे युग में सरलतापूर्ण जीवन-यापन की चर्चा करना समय को देखते हुए अनुपयुक्त नहीं है? क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं है, कि हम और ऊँचे पर उठें और जीवन की बढ़ती हुई जटिलता पर अधिकार करें? इस विश्व की सृष्टि और विकास में जो ये सब बातें दिखलाई पड़ती हैं, क्या वे सब ईश्वर-कृत नहीं हैं?

फिर एक बात और है। आज-कल के जटिल उपकरणों और यन्त्रों आदि के कारण बहुत से लोगों का दास्य-वृत्ति से छुटकारा हो गया है और अब यदि सब लोग फिर से वही सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने लग जायँगे, तो बहुत से लोग फिर पहले की तरह दीनावस्था तथा दास्य-वृत्ति को प्राप्त हो जायँगे। यह ठीक है कि हमारे उपकरणों आदि की संख्या बहुत बढ़ गई है और उनमें बहुत कुछ जटिलता भी है; परन्तु फिर भी क्या उनके कारण अकाल, रोगों और प्रचण्ड शीत तथा ताप आदि से हमारी रक्षा नहीं होती? आज-कल खेती-बारी के लिए बहुत से बड़े-बड़े यन्त्र बन गये हैं, हर जगह बिजली की रोशनी होने लगी है, गैस के चूल्हे, पानी के नल और बिजली से मकानों को ठण्ढा या गरम करने के यन्त्र बन गये हैं, हवाई जहाज, रेल-गाड़ियाँ और मोटर-गाड़ियाँ बन गई हैं और तार तथा टेलीफोन आदि लग गये हैं। क्या इन सब बातों ने हमें पशुओंवाले जीवन की सीमा के बाहर नहीं पहुँचा दिया है? हमारे बहुत से भय और आशंकाएँ दूर नहीं कर दी हैं? हममें निश्चिन्तता का भाव नहीं उत्पन्न कर दिया है? और कम-से-कम हमारे लिए फ़ुरसत का मौका नहीं ला दिया है? यदि सभ्यता की वृद्धि होगी तो अवश्य ही हमें बहुत कुछ फ़ुरसत मिलने लगेगी।

फिर एक और सन्देह है जो प्रत्येक माता-पिता के मनमें तुरन्त ही उत्पन्न होता है। हम सभी लोग यह चाहते हैं कि हमारे बाल-बच्चों को हर तरह का सुभीता और फायदा हो, वे हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ तथा बलवान् हों, हमारी अपेक्षा अधिक ज्ञान प्राप्त करें, कम भूलें करें, अधिक उत्तम आचरण सीखें, संसार की और भी अधिक बातें देखें तथा जानें, अधिक पूर्ण तथा अधिक सम्पन्न जीवन व्यतीत करने में समर्थ हों और अधिक शक्ति, अधिक सौन्दर्य तथा अधिक आनन्द से सम्पन्न हों। अब यदि हम लोग अपना भी और अपने बाल बच्चों का भी जीवन फिर से वही सीधा-सादा बनाकर उसे कुचल डालें तो फिर आज-कलके जमाने में हम उन्हें किस प्रकार उपर्युक्त सब बातों के लिए उपयुक्त शिक्षा दे सकते हैं? किस प्रकार हमारे बाल-बच्चे दूसरे लोगों के साथ मिल-जुल सकते हैं और किस प्रकार वे सुन्दर तथा शक्तिप्रद वस्तुएँ तथा दृश्य आदि देख सकते हैं? क्या स्वस्थ रहने के लिए उनके शरीरों को भी अधिक प्रकार के भोजनों की आवश्यकता नहीं है? जब तक अनेक भिन्न-भिन्न साधनों से निरन्तर पोषण न होता रहे, तब तक उनका मन किस प्रकार विकसित हो सकता है? अवश्य ही व्यक्तियों के जीवन में भी और समाजों के जीवन में भी सौन्दर्य

सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है ; और यदि हम रूप, रेखा, वर्ण, द्रव्य-संस्थापन और भाव आदि की कठोर और सदा एक-रस बनी रहनेवाली सादगी के घेरे में बन्द रहें तो फिर हम वह सौन्दर्य किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?

फिर सरलता के औचित्य में सन्देह करनेवाले बहुत से लोग यह भी कहेंगे, कि यदि इसका प्रयोग किया जायगा तो यह व्यक्तिगत जीवन की सीमा पार करके और भी आगे बढ़ जायगी ; और तब इस बात की आवश्यकता होगी कि दलों या वर्गों से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में सरलता का व्यवहार किया जाय। फिर वे लोग स्वभावतः यह बात भी कहेंगे कि यदि बहुत से लोग सरल जीवन व्यतीत करने लगेंगे तो फिर संसार के आवश्यक जटिल कार्य कौन करेगा। आखिर सरकारों, शिल्पों और संस्थाओं आदि के काम तो चलाने ही पड़ेंगे ; और ये सब काम बहुत ही जटिल हैं। जो लोग सरलता के बहुत अधिक इच्छुक हैं, क्या वे समाज के जटिल कार्यों से सिर्फ इसी बहाने दूर रहना चाहते हैं ? अधिकांश संस्थाओं में जनता पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है। क्या कुछ लोगों के लिए यह उचित है कि वे उस शक्ति का प्रयोग करने से बचने का प्रयत्न करें ? जो लोग विवेकशील हैं, वही यदि वह शक्ति अपने हाथ में न रखेंगे, तो फिर और ऐसे आदमी कहाँ से आवेंगे जो उस शक्ति का बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयोग कर सकें ? क्या समझदार आदमियों का यह कर्तव्य नहीं है, कि वे अपने हाथ में शक्ति लें ; और जहाँ तक अच्छे ढंग से हो सके, उसका प्रयोग करें ? सरलता की जो यह पुकार मचाई जाती है, वह कहीं अपना अनुत्तरदायित्व, साहस का अभाव, शक्ति की विफलता छिपाने के लिए ही तो नहीं है ?

इन सब प्रश्नों से यह सूचित होता है कि यह सरलता का विचार हमारे सामाजिक जीवन पर कोई भारी विपत्ति ला सकता है। आज-कल किसी बड़े राष्ट्र या बड़े नगर का अस्तित्व स्वभावतः जटिल होता है। यदि सरलतावाले सिद्धान्त के पालन पर ज़ोर दिया जायगा और सचमुच इसका कार्य-रूप में प्रयोग किया जायगा, तो जान पड़ता है कि इसका परिणाम अन्त में यही होगा कि बड़े-बड़े संघटनों और संस्थाओं का नाश हो जायगा और उसका अर्थ यह है कि हमारे समाज की वर्तमान प्रणाली तथा राष्ट्रीय जीवन का ही अन्त हो जायगा।

यहाँ तक तो आशंकाओं की बात हुई। सम्भव है कि इनके सिवा कुछ और भी शंकाएँ हो सकती हों ; परन्तु कम-से-कम उक्त शंकाएँ अवश्य ही कुछ महत्व रखती हैं।

(३) शंकाओं के उत्तर

अब हमें उस पहली बड़ी शंका का विचार करना चाहिए जिसमें यह कहा जाता है कि आज-कल के विज्ञान और आविष्कारों के कारण सब तरह के सामान और खाने-पीने की चीजें बहुत ज्यादा बनने लग गई हैं, जिससे वह पुराना ज़माना

बहुत दूर जा पड़ा है जब कि चीज़ें बिलकुल मिलती ही नहीं थीं। अब उस ज़माने के विचार और नीति भी बहुत पुरानी पड़ गई है और इसीलिए सरलता-सम्बन्धी विचार का भी अब कोई महत्त्व या मूल्य नहीं रह गया है और वह भी पुराना पड़ गया है।

यद्यपि यन्त्र-निर्माण की दृष्टि से देखा जाय तो आज-कल यन्त्रों ने मानव जाति की समस्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति बहुत ही सुगम कर दी है; परन्तु फिर भी इस प्रकार की सम्भावना वास्तविकता से बहुत दूर है। इसके साथ एक बहुत जबरदस्त 'अगर' लगा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक आश्चर्यजनक यान्त्रिक, रासायनिक तथा विद्युत्-सम्बन्धी आविष्कार हो गये हैं; परन्तु फिर भी प्रत्येक देश में जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव एक ऐसी बड़ी सीमा तक पहुँचा हुआ है जिसे देखकर बहुत अधिक दुःख होता है। अमेरिका के संयुक्त राज्यों की आबादी का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसमें लोगों को यह सुभीता भी प्राप्त नहीं है कि उनके घरों में पानी का नल तो लगा हो या जाड़े में मकान को गरम रखने के लिए उनमें आतिशदान तो हों। फिर भी वह एक ऐसा देश है जो सारे संसार में सबसे अधिक सम्पन्न है और जिसमें यन्त्रों का बहुत ज्यादा प्रचार है। फिर आज-कल की यान्त्रिक शिल्प-कला की विफलता का एक यह भी प्रमाण है कि प्रायः सभी देशों में बेकारों की संख्या बहुत अधिक है, और कदाचित् इतनी अधिक है जितनी संसार के इतिहास में आज से पहले और कभी नहीं हुई थी।

यन्त्रों आदि से जो चीज़ें तैयार की जाती हैं, वे हमारी आर्थिक मूल्य-प्रणाली और ऋण के व्यवहार-द्वारा नियन्त्रित होती हैं और इन्हीं के अनुसार वे भिन्न-भिन्न देशों तथा बाज़ारों में पहुँचती हैं और जो लोग अच्छा दाम दे सकते हैं, वही उन्हें खरीद सकते हैं। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता है कि एक ओर तो जहाँ चीन में लाखों, करोड़ों आदमी भूखों मरते हैं, वहाँ दूसरी ओर अमेरिका के संयुक्त राज्यों में लाखों-करोड़ों मन गेहूँ जला दिया जाता है। एक ओर तो कैलिफ़ोरनिया में हज़ारों लाखों मन नारंगियाँ पड़ी सड़ा करती हैं और दूसरी ओर हमारे यहाँ के नगरों में बहुत से बालक अनेक प्रकार के ऐसे रोगों से पीड़ित रहते हैं जो नारंगी में पाये जानेवाले विटैमिनों या विशेष शक्तिवर्द्धक तत्वों से सहज में दूर हो सकते हैं। और यदि कोई गिनाना चाहे तो इस तरह की सैकड़ों-हज़ारों बातों का पूरा ग्रन्थ ही बना सकता है। *

---

* इस प्रकार के और अधिक उदाहरणों के लिए पाठकों को स्टुअर्ट चेस-द्वारा लिखित और मैक्मिलन कम्पनी द्वारा प्रकाशित The Tragedy of Waste नामक ग्रन्थ तथा जेरोम डेविस-द्वारा लिखित Capitalism & Its Culture नामक ग्रन्थ का पाँचवाँ प्रकरण देखना चाहिए।

विज्ञान और यन्त्रों के द्वारा वस्तुएँ प्रस्तुत करने में जो बहुत बड़ी-बड़ी उन्नतियाँ हुई हैं, उनके कारण सभ्यता की नैतिक समस्याओं की मीमांसा नहीं हो सकी है। इन उन्नतियों ने उनमें से कुछ समस्याओं के तो केवल रूप बदल दिये हैं, दूसरी बहुत सी समस्याओं को और भी ज्यादा बढ़ा दिया है, कुछ को विलक्षण स्वरूप प्रदान कर दिया है और बहुत सी दूसरी समस्याओं को इतना अधिक कठिन बना दिया है कि उनका किसी प्रकार निराकरण हो ही नहीं सकता। तैयार होनेवाली चीजों का ठीक-ठीक बटवारा केवल व्यवस्था और संघटन के कारण ही कठिन नहीं हो रहा है; बल्कि वास्तव में वह एक नैतिक समस्या है।

हर्नल्ड जे० टोयनबी ने Studies of History (इतिहास का अध्ययन)* नामक जो बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है, उसके तीसरे खण्ड में सभ्यताओं के विकास का विवेचन किया गया है। प्रायः साठ पृष्ठों में तो उन्होंने यह बतलाया है कि सभ्यता का विकास किन-किन बातों से होता है और इसके अन्तर्गत उन्होंने यह भी बतलाया है कि मनुष्य की बुद्धि का विकास किन-किन बातों से होता है और शारीरिक गठन में किन-किन बातों से उन्नति या वृद्धि होती है। उन्होंने बहुत सी सभ्यताओं के विकास के सम्बन्ध की सब बातों का जो पता लगाया है, वह बहुत ही पांडित्यपूर्ण है। उन्होंने मिश्री, सुमेरियन, मिनोअन, हिल्लेनी, सीरियाई, भारतीय, ईरानी, चीनी, बैबिलोनी, मय और जापानी आदि अनेक सभ्यताओं के विकास का बहुत ही पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। बहुत से प्रमाणों आदि का विचार करने के उपरान्त अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि न तो आस-पास के भौतिक पदार्थों तथा स्थानों आदि पर अधिकार प्राप्त कर लेने से ही सभ्यता का विकास होता है और न आस-पास रहनेवाले लोगों अर्थात् दूसरे राष्ट्रों तथा दूसरी सभ्यताओं पर अधिकार प्राप्त कर लेने से ही सभ्यता का विकास होता है; बल्कि सूक्ष्म सम्बन्धों के विकास से ही सभ्यता की वृद्धि और विकास होता है। उन्होंने बतलाया है कि जब मनुष्य अपने जीवन के सब कार्यों और व्यवहारों को बिलकुल सरल और सादा बना लेता है और अपना ध्यान तथा शक्ति भौतिक बातों से हटाकर उच्चतर, अर्थात् आध्यात्मिक तथा नैतिक क्षेत्रों में लगाता है, तभी उसकी सभ्यता की उन्नति तथा विकास होता है। बर्गसन की तरह उसने भी यही बतलाया है कि जटिलता का मेल भूत या द्रव्य के साथ है और सरलता का मेल जीवन के साथ है—जटिलता भूत या द्रव्य है और सरलता जीवन है। †

कुछ लोग यह भी कहते हैं, कि यन्त्र आदि तो केवल साधन और उपकरण हैं और स्वयं उनमें नीति अथवा अनीति कुछ भी नहीं होती। हम यन्त्रों का उपकरण अच्छे कामों में भी कर सकते हैं और बुरे कामों में भी कर सकते हैं; परन्तु इसके

* ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९३४।

† एच० बर्गसन कृत Two Aspects Of Morals & Religions.

उत्तर में हम यह कहना चाहते हैं, कि जिन उपकरणों और साधनों का हम उपयोग करते हैं, उनका हम पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्तियों के जीवन में भी और राष्ट्रों के जीवन में भी हम बराबर यह देखते हैं, कि जब कुछ विशिष्ट साधनों का खूब ज़ोरों से, पूरी तरह और लगातार बहुत दिनों तक प्रयोग किया जाता है, तो आगे चलकर स्वयं वे साधन ही हमारे अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य का रूप धारण कर लेते हैं। फिर लोगों का ध्यान केवल उन साधनों पर ही रह जाता है और उन्हें छोड़कर कहीं इधर-उधर नहीं जाता। ‡ हमारी आँखों पर उन्हीं साधनों और उपकरणों की चरबी छा जाती है। विज्ञान, यन्त्रों और धन में जो परिमाणात्मक तत्व होते हैं, उनके कारण उनका उपयोग करनेवाले लोगों के जीवन और विचार भी बिलकुल यन्त्रों के समान और विभक्त हो जाते हैं। विज्ञान, यन्त्र और धन के कारण जो सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं उनका स्वरूप केवल यान्त्रिक ही होता है। और उनमें ऐन्द्रिकता या सहृदयता नाम को भी नहीं रह जाती। इसमें सन्देह नहीं कि यन्त्रों और धन से हमें बाहरी शक्ति तो यथेष्ट मात्रा में प्राप्त हो जाती है; परन्तु ये सब हमारी भीतरी शक्ति को खा डालती हैं। §

हम लोग यही समझते हैं कि यन्त्रों आदि के कारण हमारा बहुत-सा समय बचता है और हमें फ़ुरसत मिल जाती है; परन्तु वास्तव में इन यन्त्रों के कारण हमारे काम बहुत ज़्यादा बढ़ जाते हैं और हमें सभी कामों में बहुत जल्दी करनी पड़ती है*। जब हम अपने मकान में टेलीफ़ोन लगा लेते हैं, तब यही समझते हैं, कि हमें बार-बार बाज़ार जाने की तकलीफ़ नहीं उठानी पड़ेगी और जिन लोगों के साथ हमारा लेन-देन या और किसी तरह का व्यवहार है, उनसे ज़रा-ज़रा सी बातें पूछने के लिए उनके यहाँ तक दौड़ना नहीं पड़ेगा। यह ठीक है, कि हम उस टेलीफ़ोन का उपयोग इन सब कामों के लिए करते हैं; लेकिन साथ ही हम अपने छोटे-छोटे व्यवहारों का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा लेते हैं और घर में

‡ एच० वैहिंगर कृत The Philosophy of 'As If' पृ० ३०, साथ ही देखो अमेरिकन फिलासॉफकल एसोसिएशन में जनवरी १९२९ में दिया हुआ जान डेवी का व्याख्यान।

§ हैवलोक एलिस का 'Affirmations' में सन्त फ्रांसिस पर लिखा हुआ निबन्ध। प्रकाशक हाउटन, मिफ़्लिन, बोस्टन। साथ ही सेमुअल बटलर कृत Erewhon (E. P. Dutton & Co, New York.) और विल्हेम रास कृत What is Europeon Civilization, आक्स० यू० प्रेस १९२९।

* देखो आर आस्टिन फ्रीमैन कृत Social Decay & Regeneration, स्टुअर्ट चेस कृत Men & Machines पृ० ३२०-३९९, और लेविस मम्फर्ड कृत Technics & Civilisation, Brace & Co, New York का आठवाँ प्रकरण।

टेलीफ़ोन का सुभीता होने के कारण ज़रा-ज़रा-सी और अनावश्यक बातों के लिए भी उसका उपयोग करने लग जाते हैं। पहले तो हम यही समझते थे कि टेलीफ़ोन लगा लेने से हमारा बहुत-सा समय बच जायगा; पर जब टेलिफोन लग जाता है, तब वह बचा हुआ समय भी टेलीफ़ोन के फेर में ही खर्च हो जाता है। बार-बार लोग हमसे टेलीफ़ोन पर बातें करते हैं और बार-बार हम भी टेलीफ़ोन उठाकर दूसरों से बातें करने लग जाते हैं और बचा हुआ सारा समय इन्हीं सब बातों में खर्च हो जाता है। मोटर-गाड़ी का भी हमारे गार्हस्थ्य जीवन पर इसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है। जब हम पैदल चलते थे, तब तो थोड़ा ही दूर का चक्कर लगाकर रह जाते थे और सिर्फ़ वहीं जाते थे, जहाँ जाना बहुत ही ज़रूरी होता था; पर जब मोटर पास रहती है, तब दूर-दूर के चक्कर लगने लगते हैं और व्यर्थ के कामों या बातों के लिए भी दूर तक निकल जाने में हमें कोई संकोच नहीं होता। जिस फ़ुरसत की आशा से हमने मोटर रखा थी, वह फ़ुरसत मोटर रखते ही हवा हो जाती है और हमारी पुरानी फ़ुरसत भी अपने साथ ले जाती है। और जिन स्थानों में मोटर-गाड़ियाँ बहुत ज्यादा होती हैं, जैसे न्यूयार्क या लंदन के कुछ विशेष भागों में, वहाँ प्रायः यही देखने में आता है कि मोटर-गाड़ियों पर चलनेवालों की अपेक्षा पैदल चलनेवाले लोग अपने निर्दिष्ट स्थान पर बहुत पहले पहुँच जाते हैं। सड़कों पर मोटरों की इतनी ज्यादा भीड़ होती है कि मोटरों को जल्दी आगे बढ़ने का मौक़ा ही नहीं मिलता और पैदल चलनेवाले मोटर की अपेक्षा जल्दी अपनी जगह पर जा पहुँचते हैं।

यन्त्र-प्रधान देशों में लोगों को बहुत ही कम फ़ुरसत रहती है। यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि पौर्वात्य देशों के निवासियों को पाश्चात्य देशों के निवासियों की अपेक्षा बहुत ज्यादा फ़ुरसत रहा करती है। अमेरिका के संयुक्त राज्यों में भी यही देखने में आता है कि बड़े-बड़े और यन्त्र-प्रधान नगरों के निवासियों को बिलकुल फ़ुरसत नहीं मिलती; पर वहीं के आस-पास के देहातों में रहनेवाले लोगों को काफ़ी फ़ुरसत मिलती है।

हम कभी इस बात पर भी ध्यान नहीं देते कि यन्त्रों के चक्कर में पड़ने के कारण किसी वस्तु का मूल्य या महत्व समझने की हमारी भीतरी शक्ति जाती रहती है, और इसका फल यह होता है कि आवश्यक परिश्रम से छुट्टी पाने पर भी हम विश्राम नहीं कर सकते—हमें जो फ़ुरसत मिलती है, उसका हम ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर सकते। हमें जो थोड़ा-बहुत फ़ुरसत का समय मिलता है, वह भी हमारे लिए निरर्थक हो जाता है। हम फ़ुरसत और विश्राम का वह समय सिनेमा देखने, रेडियो सुनने तथा दूसरे वाहियात तमाशों में बिता देते हैं और हमारा वह फ़ुरसत का समय भी हमें नीति-भ्रष्ट और अप्रतिष्ठित करनेवाला बन जाता है। हमें ऐसी बेकारी आ घेरती है जो हमारा चरित्र भी नष्ट करती है और प्रतिष्ठा भी।

कुछ लोग यह समझते हैं कि गमनागमन आदि के साधनों तथा आर्थिक जटिलताओं के कारण अकालों का प्रकोप बहुत कम हो गया है और अब लोगों को पहले की तरह आधे पेट खाकर नहीं रहना पड़ता ; परन्तु यह भी उनकी भूल है। और उन लोगों से यह भूल कदाचित् इसलिए होती है कि वे लोग खुद बहुत आराम से रहते हैं और उनके पास काफ़ी दौलत होती है। स्वयं ऐसा कहनेवाले लोगों के देशों में भी और संसार के अन्यान्य देशों में भी समाज-सेवा का कार्य करनेवाले लोग जनता की दुर्दशा और भूखों रहने के सम्बन्ध के जो अंक तथा विवरण आदि प्रस्तुत करते हैं, उन्हें पहले तो वे सम्पन्न लोग कभी पढ़ते ही नहीं और यदि कभी पढ़ते भी हैं तो उनका ठीक-ठीक आशय ही नहीं समझ पाते।

मध्य युग में यूरोप में जो भीषण महामारी फैली थी, उसके कारण जितने अधिक लोगों के प्राण गये थे, उनकी संख्या जानकर और उस महामारी का वर्णन पढ़कर जो लोग काँप उठते हैं, वे यह बात बिलकुल भूल जाते हैं कि गत यूरोपीय महायुद्ध के समय जो इन्फ्लुएञ्जा फैला था, उसमें सारे संसार में करोड़ों आदमी मर गये थे। जो लोग बड़े अभिमान से यह कहते हैं कि छूतवाले रोगों से आज-कल पहले की अपेक्षा बहुत कम मौतें होती हैं, वे कभी इस बात का ज़िक्र नहीं करते कि आज-कल कर्कट, बहुमूत्र, गुरदे, जिगर और खून की गर्दिश रुकने के रोग कितने बढ़ गये हैं और पागलपन में भी दिन-पर-दिन कितनी अधिक वृद्धि होती जाती है। आज-कल हम लोग इस बात का बहुत बड़ा अभिमान करते हैं कि बहुत से रोगों पर हमने विजय प्राप्त कर ली है; परन्तु यदि हम शरीर-शास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् लेक्सिस कैरस का हाल का लिखा हुआ 'Man the Unknown' नामक * ग्रन्थ पढ़ें तो हमारा वह सारा अभिमान चूर-चूर हो जायगा। उस ग्रंथ में उन्होंने बतलाया है कि यदि हम लोगों की केवल आयु ही बढ़ाते रहें तो उसका परिणाम यह होगा कि संसार में ऐसे वृद्धों की संख्या बहुत बढ़ जायगी, जिनका पालन-पोषण नवयुवकों को करना पड़ेगा और इसे हम कभी उन्नति नहीं कह सकते। उनका यह भी विश्वास है कि आज-कल ऐश-आराम के जो सामान बढ़ते जाते हैं, उनके कारण जीव-विद्या या प्राणि-तत्व की दृष्टि से हमारी बहुत बड़ी हानि हो रही है ; क्योंकि वास्तव में हमारे शरीर का संघटन ऐसे ढंग से हुआ है कि नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर हमारा शरीर भी उन्हीं के अनुकूल बन सकता है ; पर ऐश-आराम का बहुत ज्यादा सामान मिलने पर हमारे शरीर की वह आन्तरिक शक्ति, जो हमें नई परिस्थितियों के अनुकूल बना सकती है, धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। और जहाँ ऐसी अवस्था हो, वहाँ आज-कल के शिल्पवाद के कारण उत्पन्न होनेवाले सामाजिक दोषों का तो पूछना ही क्या है। †

---

* Alexis Carel कृत Man the Unknown; प्रकाशक, हार्पर एंड ब्रदर्स। पृ० ११४-११६, १२४, १२९।

† उक्त ग्रन्थ पृ० २३३, ३०३, ३०४।

जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं को वश में करने का यह मार्ग नहीं है कि हम उन जटिलताओं को और भी बढ़ाते चले जायँ। उचित और उपयुक्त मार्ग यही है कि हम अपने उस अन्तस्तल की ओर अभिमुख हों जो सबमें एकता उत्पन्न करता है। हमें बुद्धि की नहीं, बल्कि आत्मा की शरण लेनी चाहिए और तब आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के लिए ऐसी नई-नई तरकीबें और नये-नये तरीक़े निकालने चाहिए जिससे हमारी सच्ची आत्मा और हमारा सच्चा स्वरूप पूर्ण रूप से अपनी अभिव्यक्ति कर सके। इस काम में मदद पहुँचाने के लिए भी और हमारी बढ़ी हुई यान्त्रिकता का ताप शमन करने के लिए भी सरलता बेमौक़े नहीं है; बल्कि बहुत ही अधिक आवश्यक है।

इस बात में सन्देह ही है कि किसी प्रकार के बड़े-बड़े संघटनों के साथ सरलता की संगति कभी बैठ भी सकती है या नहीं; क्योंकि यदि इस क्षेत्र में सरलता के सिद्धान्त पर ज्यादा जोर दिया जायगा तो उसका परिणाम यही होगा कि जिन बड़े-बड़े संघटनों पर हमारा आधुनिक जीवन बहुत कुछ निर्भर रहता है वे सब संघटन नष्ट हो जायँगे। इसी के साथ मिला हुआ एक और सन्देह यह भी है कि सरलता की सिद्धि का प्रयन्त करते समय हमें दूसरों पर अपने अधिकार और बल के प्रयोग का जो परित्याग करना पड़ेगा, उसके कारण कहीं हम अपने उत्तरदायित्व से तो बचने का प्रयत्न न करने लग जायँगे। इन सब बातों के सम्बन्ध में हमारा विश्वास तो यही है कि अपने आधुनिक जगत् में से हमें और भी ऐसे बहुत से अवसर मिल सकते हैं जिनमें हम दूसरों पर अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। हमारे बड़े-बड़े कार्य-निर्वाहक संघटन—जिनमें आर्थिक, शिल्पीय, व्यापारिक तथा शासन-सम्बन्धी सभी प्रकार के संघटन सम्मिलित हैं—इतने अधिक और विस्तृत हैं कि उनके मुख्य कार्य-कर्त्ता अधिकारियों के लिए यह जानना बिलकुल असंभव ही है कि इन संघटनों में जन-साधारण पर वास्तव में क्या बीतती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इस बारे में बहुत बड़ी-बड़ी और लगातार ग़लतफ़हमियाँ होती हैं, बड़े-बड़े अन्याय होते हैं और उनके परिणाम-स्वरूप असंतोष तथा संघर्ष होते हैं। यह बात सभी बड़े-बड़े कार्य-निर्वाहक संघटनों में होता है, फिर चाहे उनका कार्य-क्षेत्र कोई हो। वे संघटन जितने ही बड़े होते हैं, उसमें उतने ही अधिक निश्चित रूप से ये सब बातें होती हैं। उनका बृहद् आकार ही ऐसा होता है कि मनुष्य के लिए उनकी ठीक-ठीक व्यवस्था करना असम्भव हो जाता है। यान्त्रिक और आर्थिक दृष्टि से भले ही वे उन संघटनों से पूरा-पूरा काम ले लेते हों; परन्तु मनुष्यत्व की दृष्टि से उनका कभी ठीक-ठीक संचालन हो ही नहीं सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल आवश्यक और अनिवार्य रूप से उसका यही परिणाम होता है—इसके सिवा और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता।

यही कारण है कि हम बड़ी-बड़ी शक्तियों का प्रयोग और संचालन लाभ

की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचाये बिना नहीं कर सकते। जब हम कोई काम करने के लिए बहुत बड़ी शक्ति अपने हाथ में लेंगे तो उस काम से लोगों को जितना लाभ पहुँचेगा. उसकी अपेक्षा कदाचित् हानि ही अधिक होगी। आजकल बहुत थोड़े-से आदमियों के हाथ में बहुत अधिक शक्ति केन्द्रित रहती है। इस विषय में हम मि० जस्टिस ब्रैन्डेइस से सहमत हैं कि हमारी संस्थाएँ और संघटन इतने बड़े हो गये हैं कि उनका ठीक तरह से संचालन करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। यह कोई अच्छी दलील नहीं है कि बहुत-सी दौलत के एक ही जगह जमा हो जाने से हम बहुत अधिक व्यावसायिक तथा वैज्ञानिक उन्नति कर सकते हैं; क्योंकि अब तक हमने जो व्यावसायिक और वैज्ञानिक उन्नति की है, वह हमारे दूसरे अंगों की उन्नतियों के मुक़ाबिले में बहुत अधिक है और बहुत आगे बढ़ी हुई है। यदि हम चाहते हों कि हमारी सभ्यता स्थायी हो और बहुत दिनों तक बनी रहे तो हमें इस भ्रम से अपना पीछा छुड़ाना चाहिए कि हम दुनिया में सबसे बड़े हैं और हमने जितनी उन्नति की है, उतनी आज तक किसी ने नहीं की है, और साथ ही हमें अपने सर्वसाधारण जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। हमें अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को एक बड़े केन्द्र से हटाकर बहुत से छोटे-छोटे केन्द्रों में विभक्त करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि के लिए और भी बड़े बड़े केन्द्रीकरणों की आवश्यकता हो तो इस बात की गुञ्जाइश होनी चाहिए कि जो छोटी-छोटी इकाइयाँ इस समय आपस में अच्छी तरह सम्बद्ध नहीं है, वे अधिक सम्बद्ध की जा सकें और मिलाकर एक सूत्र में बाँधी जा सकें। इस प्रकार के परिवर्तनों से समाज को और भी अधिक दृढ़ता प्राप्त होगी, उसकी दृढ़ता कम नहीं होने पायेगी। ऊपर जो बातें कही गई हैं, उनका तथा कुछ और बातों का ध्यान रखते हुए हमें इस बात में सन्देह ही है कि क्या पूर्ण साम्यवाद कभी इन सब बातों का ठीक-ठीक जवाब हो सकता है?

सरलता के सम्बन्ध में जो बड़े-बड़े सन्देह किये जाते हैं, उनका विवेचन कर चुकने के उपरान्त अब हम इस बात का विचार करना चाहते हैं कि किन-किन कारणों से जीवन में सफलता लाने की आवश्यकता है।

(४) सरलता के आर्थिक कारण

स्वेच्छा से सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के बहुत से कारण हैं और उन कारणों की संख्या बहुत अधिक है; परन्तु फिर भी वे कारण इतने अधिक नहीं हैं कि जिनसे स्वयं सरलता का विवेचन ही जटिल हो जाय। यदि यह बात देखने में जटिल जान पड़ती है, तो इसका कारण यही है कि इस विषय का पूरा-पूरा और स्पष्ट स्वरूप जानने के लिए बहुत-सी दिमागी गड़बड़ी और झाड़-झंखाड़ साफ़ करने की ज़रूरत है।

आज-कल हम लोग सब बातों पर मुख्यतः आर्थिक दृष्टि से ही विचार करते हैं ; इसलिए हम इस विषय की सब बातों का विचार भी पहले आर्थिक दृष्टि से ही करना चाहते हैं ।

अर्थ-शास्त्र के कम-से-कम तीन विभाग हो सकते हैं—माल की तैयारी, बँटाई और खपत । जो माल बनकर तैयार होता है, न तो उसके तैयार करनेवाले ही हम सब लोग होते हैं और न उन्हें अलग-अलग बाजारों में बाँटने या भेजने का ही काम हम सब लोगों के हाथ में होता है ; पर हाँ, उन सबकी खपत हम सभी लोग करते हैं—सभी लोग उन्हें खरीदते और काम में लाते हैं । सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करने का प्रभाव सबसे पहले इसी खपत पर पड़ता है । इससे खपत नियमित और परिमित हो जाती है । खपत ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाल सकता है । यह ठीक है कि इस काम में हरएक आदमी का अंश बहुत ही थोड़ा होता है ; परन्तु फिर भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए, कि एक यही ऐसा क्षेत्र है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक उत्पादन और विभाग की शक्तियों पर अपना नियन्त्रण दिखला सकता है । अब यदि वह सब लोगों के सम्मिलित आर्थिक कल्याण के लिए अपने आपको उत्तरदायी समझता है, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि सोच-समझकर यह निश्चय कर ले कि मैं अपने लिए और अपने परिवार के लिए अधिक-से-अधिक इतनी ही चीज़ें खरीदूँगा, इससे अधिक नहीं खरीदूँगा और अपने इस निश्चय का दृढ़तापूर्वक पालन करे ।

इस समय हम अपने आपको जिस आर्थिक व्यवस्था में पाते हैं उसका कार्यात्मक रूप बहुत ही त्रुटिपूर्ण है । इसके दो सबसे अधिक हानिकारक तत्व लोभ और प्रतियोगिता हैं । आज-कल के सामाजिक जीवन में मुख्य रूप से सब जगह प्रतियोगिता का ही आडम्बर दिखाई देता है । इस आडम्बर को रोकने के लिए सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करने से बहुत बड़ी सहायता मिलती है और इसीलिए इससे लोभ और प्रतियोगिता में भी बहुत कुछ रुकावट हो जाती है ; इसलिए जो लोग आज-कल की आर्थिक व्यवस्था में सुधार करना चाहते हों, वे स्वयं सरलतापूर्वक जीवन व्यतीत करके और दूसरों को भी ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करके इस सुधार के काम में बहुत बड़ी सहायता पहुँचा सकते हैं । इस बात का हम सभी लोगों के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह पूँजीदारी महाजनों और कारखानेदारों का केवल बाहरी संघटन नहीं है । यह पूँजीदारी एक ऐसे भाव, प्रवृत्ति और अभ्यास की सूचक है जो हम सभी लोगों में मौजूद है । जो लोग इस पूँजीदारी की प्रथा में सुधार करना चाहते हैं अथवा इसका अन्त करना चाहते हैं, वे भी अपने आपमें इस पूँजीदारी की कुछ प्रवृत्तियाँ, कुछ अभ्यास और कुछ वासनाएँ मौजूद पाते हैं । यदि पूँजीदारी की प्रथा में सुधार करना हो अथवा उसका अन्त करना हो तो वह परिवर्त्तन हममें से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, विचारों और अनुभूतियों के स्वरूप ही बिलकुल बदल देगा ।

इसके विपरीत यदि हम कुछ काम करके इस परिवर्त्तन और सुधार में सहायक बनना चाहते हों तो स्वयं हमें ही पहले अभिलषित दिशा की ओर चलकर अपने जीवन-क्रम में परिवर्त्तन आरम्भ करना पड़ेगा। जिस व्यवस्था में हम परिवर्त्तन करना चाहते हों, यदि उसमें हमारा भी बहुत बड़ा हिस्सा हो तो हमारे लिए अपने उस व्यवस्था से अपने आपको छुड़ाना भी उतना ही अधिक कठिन हो जाता है, और उस अवस्था में हम उसके सुधार में कोई विशेष कार्य नहीं कर सकते। जो लोग ज़मीन-जायदाद में लगाई हुई या बैंकों आदि में जमा की हुई रक़म से होनेवाली आमदनी से ही गुज़ारा करते हों, वे तब तक आर्थिक व्यवस्था में बड़े-बड़े परिवर्त्तन करने का समर्थन नहीं कर सकते, जब तक वे अपना जीवन इतना सरल न बना लें कि आमदनी घट जाने पर भी उनके जीवन-निर्वाह की प्रणाली में कोई विशेष व्यति-क्रम न हो। अतः हम जो परिवर्त्तन बतलाते हैं, वे आन्तरिक भी होने चाहिए और वाह्य भी, और मैं समझता हूँ, कि इन परिवर्त्तनों का स्वरूप यही होना चाहिए कि लोग सरलतापूर्ण जीवन व्यतीत करना आरम्भ करें।

अपने से दुर्बल मनुष्यों की कमाई खाने की निन्दनीय प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है और स्वयं पूँजीदारीवाली प्रणाली से भी बहुत पुरानी है। जिन दिनों यूरोप में सरदार-तन्त्र प्रचलित था, उन दिनों भी वहाँ इसका चलन था, और प्रायः सभी महादेशों में पुराने ढंग के आर्थिक तथा सामाजिक संघटनों में भी इसका अस्तित्व था। यदि यह चाहते हों कि गरीबों की कमाई से बड़े आदमी फ़ायदा न उठा सकें तो इसके लिए सबसे पहला काम हमें यह करना चाहिए कि हम सीधा-सादा और सरल जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दें। शौकीनी की जितनी बातें हैं, उनके लिए मज़दूरों को अनावश्यक परिश्रम करना पड़ता है, और जान ऊलमैन ने यह बात बहुत ही स्पष्ट करके दिखला दी है। शौकीनी की चीजें तैयार करने के लिए श्रम और पूँजी को समाज के दूसरे उपयोगी और आवश्यक कामों की ओर से हटाकर लगाना पड़ता है और यदि शौकीनी की चीजों का बनना बन्द हो जाय तो वही श्रम और पूँजी दूसरे अधिक उपयोगी कामों में लगाई जा सकती है। ऐसी चीज़ें तैयार करने में बहुत-सा ऐसा कच्चा माल फ़िज़ूल जाता है जो दूसरे अच्छे कामों में लगाया जा सकता है। इससे आवश्यक वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है, जिससे असली मज़दूरी कम हो जाती है और दरिद्रों के लिए जीवन-निर्वाह का प्रयत्न तथा संघर्ष और भी विकट हो जाता है।

ग़रीब आदमी भी प्रायः अमीरों की ही तरह रहना और उनकी नक़ल करना चाहते हैं, इसी लिए पाश्चात्य देशों में बहुत थोड़ी मज़दूरी पानेवाली और कारखानों में काम करनेवाली औरतें परों के बने हुए वैसे ही गुलूबन्द आदि खरीदती हुई दिखाई पड़ती हैं, जैसे बड़े घर की औरतें खरीदती हैं। यही नहीं, ग़रीब और मज़दूर वर्ग की स्त्रियाँ भी बड़े मँहगे जूते और अंगराग आदि

शृंगार की वस्तुएँ खरीदती हैं; और इसका फल यह होता है, कि वे अपने लिए उपयुक्त खाद्य पदार्थ तथा गरम कपड़े आदि नहीं खरीद सकतीं। इस प्रकार अमीर लोग जो आडम्बरपूर्ण और ऐश-आराम की चीज़ें खरीदते हैं, इसके लिए ग़रीबों को अनावश्यक परिश्रम भी करना पड़ता है और साथ ही अनेक प्रकार की कठिनाइयों और रोगों आदि से भी ग्रस्त होना पड़ता है। शौक़ीनी की चीज़ों के फैशन भी प्रायः अचानक और अकारण बदल जाते हैं और इस प्रकार के परिवर्त्तनों से बेकारी बढ़ती है। जब रुपये-पैसे और रोज़गार की मन्दी के दिन आते हैं, तब सबसे ज्यादा आफत उन्हीं लोगों पर आती है जो शौकीनी की चीजें तैयार करते और बेचते हैं; क्योंकि उस समय लोग सबसे पहले शौकीनी की चीजें लेना ही बन्द करते हैं; इसलिए शौकीनी की चीजें तैयार करने और बेचने के काम में जितने ही कम आदमी लगेंगे, जनता उतनी ही अधिक सुरक्षित रहेगी। जो लोग शौकीनी की चीजें खरीदते हैं, वे ऊपर से देखने में यही समझते हैं कि हम बहुत लोगों को कामधन्धे में लगाये रहते हैं; परन्तु वास्तव में इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से लोगों की असली मज़दूरी बहुत कम हो जाती है, (क्योंकि उन्हें अपनी मज़दूरी का बहुत बड़ा अंश फ़िज़ूल की चीजें खरीदने में खर्च करना पड़ता है); और इसका परिणाम यह होता है कि दिन-पर-दिन ज्यादा आदमी बेकार होते हैं। इस प्रकार शौकीनी की चीजें खरीदनेवाले लोग मजदूरों को एक हाथ से तो थोड़ा-सा धन देते हैं और दूसरे हाथ से उनसे बहुत ज्यादा धन छीन लेते हैं।

कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं जिनकी मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यकता होती है और जिनके बिना उसका काम किसी तरह चल ही नहीं सकता—जैसे भोजन, वस्त्र और रहने के लिए छायादार स्थान—और इन सबकी व्यवस्था आवश्यक होती है। जल-वायु, रीति-रिवाज और सभ्यता की वृद्धि या विकास के अनुरूप ही लोगों को अलग-अलग तरह की इन सब चीज़ों की जरूरत होती है; परन्तु फिर भी प्रत्येक देश में जीवन-निर्वाह के लिए कम-से-कम एक ऐसी मात्रा या मान निश्चित होता है कि उससे कम में किसी तरह काम चल ही नहीं सकता। और यदि उस स्थान के लोगों को अधिक परिश्रम या काम करना पड़ता हो तो उस निम्नतम मर्यादा से भी कुछ अधिक मान में ये सब चीज़ें आवश्यक होती हैं। और इसका कारण यही है कि शरीर में कुछ ऐसी अतिरिक्त शक्ति का रहना आवश्यक होता है, जिससे मनुष्य अधिक परिश्रम कर सके, बीमारियों आदि का मुक़ाबला कर सके या ऐसे असाधारण तथा विशेष अवसरों पर जीवन धारण कर सके, जब कि असाधारण परिश्रम या शक्ति की आवश्यकता होती है। साथ ही इस बात के लिए भी कुछ अतिरिक्त शारीरिक शक्ति आवश्यक होती है कि मनुष्य बदलती रहनेवाली परिस्थितियों के अनुरूप बन सके और बढ़ती हुई सभ्यता के साथ चलता रहे—सभ्यता की दौड़ में पिछड़ न जाय।

आदमी की सादगी इतनी ज्यादा नहीं बढ़ जानी चाहिए कि वह ऐसी ज़रूरी चीज़ें भी छोड़ बैठे जो जीवन-धारण के लिए नितान्त आवश्यक होती हैं; बल्कि नितान्त आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त उसे कुछ और ऐसी वस्तुओं का भी संग्रह या उपयोग करना चाहिए जो आड़े वक्त पर काम आ सकें; परन्तु मनुष्यों की वासनाएँ असीम हुआ करती हैं और हम सभी लोग अपनी वासनाओं को बुद्धि-संगत बनाना चाहते हैं; इसलिए इस बात का बहुत बड़ा झगड़ा रहता है कि किस सीमा तक हमारी वासनाएँ समझदारी की होंगी और कहाँ से आगे बढ़ने पर वे नासमझी की मानी जायँगी। अभी हाल में कोलम्बिया यूनिवर्सिटी के प्रो० ई० एल० थार्नडाइक ने इस विषय का जो अध्ययन किया है, उससे पता चलता है कि आज-कल एक औसत अमेरिकन को खाने-पहनने और रहने आदि के लिए जितना खर्च करना पड़ता है, वह बहुत ज्यादा है और उससे कहीं कम खर्च में जीवन-धारण की समस्त आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था हो सकती है। उन्होंने अमेरिका के संयुक्त राज्यों की मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों तथा इसी प्रकार के और विश्वसनीय साधनों के आधार पर यह हिसाब लगाया है कि साधारणतः किस वर्ग के लोगों को इन सब कामों के लिए कितना खर्च करना पड़ता है। समाचार-पत्रों में उनका जो वक्तव्य छपा था, उसमें उन्होंने कहा था*—'मनोविज्ञान के ज्ञाताओं की एक राय से मैंने अपने देश के निवासियों के सब खर्चों की हरएक मद को इस दृष्टि से बाँटा है, कि कौन-सी मद किस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए है और उनके आधार पर उन लोगों की आवश्यकताओं की एक सूची बनाई है और यह हिसाब लगाया है कि उनमें से प्रत्येक आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए साधारणतः एक मनुष्य को कितना व्यय करना पड़ता है।......इन्द्रियों का सुख भोगने के लिए, सुरक्षित रहने के लिए, दूसरों को प्रसन्न और संतुष्ट करने के लिए, संग-साथ और समाज का सुख भोगने के लिये और भावी वर-वधू में प्रेम-व्यवहार स्थापित करने के लिए बड़ी-बड़ी रक़में खर्च की जाती हैं; और इनमें से हरएक मद में उतना ही खर्च होता है जितना क्षुधा की शान्ति के लिए होता है।......हम शीत, आतप, नमी, पशुओं, रोगों, अपराधियों और दूसरे दुष्टों तथा पीड़ाओं आदि से रक्षित रहने के लिए जितना धन व्यय करते हैं, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक धन अपने मनोविनोद के लिए, जिसमें बुद्धि-विनोद और आँख, कान, ज़बान, नाक आदि इन्द्रियों का सुख भी सम्मिलित है, बहुत अधिक धन व्यय करते हैं।' अमेरिकावाले प्रतिवर्ष सत्तर करोड़ डालर (एक

---

* सेन्ट लुई 'अमेरिकन एसोसिएशन फ़ॉर दि एडवान्समेन्ट ऑफ़ सायन्स (American Association For The Advaucement of Science) की सभा में सभापति के पद से दिया हुआ व्याख्यान। देखो न्यू यार्क टाइम्स, ३१ दिसम्बर १९३५,

डालर तीन रुपयों से कुछ ऊपर का होता है) केवल अंगराग और सौन्दर्य-वृद्धि के लिए व्यय करते हैं और सन् १९१९ में वे लोग एक खरब डालरों की मिठाई और चीनी में पगी हुई चीजें खा गये थे। पान की जगह वहाँ वाले जो गोंद चबाते हैं, उसके लिए उन्होंने उस साल पाँच करोड़ डालर खर्च किये थे और सिगार, सिगरेट, सुँघनी और तमाखू आदि में दो खरब ग्यारह करोड़ डालर खर्च किये थे और इस से डॉ० थार्नडाइक की कही हुई बातों की उग्रता और भी अधिक हो जाती है। आगे चलकर वे कहते हैं—'हमने सब मिलाकर जितना खर्च किया था, उसका एक तिहाई से भी कम ऐसे कामों में खर्च हुआ था, जिनकी मानव-जाति को जीवित रखने के लिए और अच्छी तरह तथा स्थायी रूप से जीवित रखने के लिए आवश्यकता होती है। बाकी सारी रक़म हमारे मनोविनोद आदि तथा हमें शारीरिक, मानसिक, नैतिक और विशेषतः सामाजिक दृष्टि से सुखी और संतुष्ट करने के कामों में ही व्यय हुई थी। खाने-पीने की चीज़ों में जो रक़म खर्च हुई थी, उसका ब्योरा उन्होंने इस तरह तैयार किया था—छप्पन प्रतिशत क्षुधा की शान्ति के लिए, पन्द्रह प्रतिशत खाद्य पदार्थों को स्वादिष्ट और सुगन्धित करने के लिए, दस प्रतिशत संग-साथ और सामाजिक मेल-जोल के लिए, (जिसमें वह व्यय भी सम्मिलित है जो विवाह की इच्छा रखनेवाले लोग स्त्रियों के साथ प्रेम-व्यवहार स्थापित करने में व्यय करते हैं) साढ़े तीन प्रतिशत दूसरों को प्रसन्न तथा संतुष्ट करने के लिए; और इससे भी कम रक़म रोग और शीत आदि से बचने, दूसरों को आराम पहुँचाने और नेत्रों का आनन्द भोगने के लिए करते हैं। इसी प्रकार पहनने के कपड़ों आदि में जो व्यय होता है, उसके सम्बन्ध में डॉ० थार्नडाइक का विश्वास है कि उसमें आधी रक़म तो ऐसे कपड़ों के लिए खर्च होती है जो शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक होते हैं और आधी रक़म ऐसे कपड़ों में खर्च होती है जो अनावश्यक और सिर्फ़ शौकीनी के लिए होते हैं। कपड़ों में जो ज़रूरत से दूना खर्च होता है, इसका कारण यही है, कि हमें कुछ तो अपनी और कुछ दूसरों की पसन्द का खयाल रहता है और हम चाहते हैं, कि कपड़े देखने में सुन्दर हों। इसके सिवा युवक और युवतियाँ एक दूसरे को मोहित और अपनी ओर अनुरक्त करने के लिए भी कपड़ों पर आवश्यकता से अधिक व्यय करती हैं और इसी तरह की कुछ और बातें हैं, जिनसे कपड़ों पर हमारा सब मिलाकर ज़रूरी से दूना खर्च हो जाता है।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि हम जीवन के लिए नितान्त आवश्यक वस्तुओं पर जो धन व्यय करते हैं, उससे कहीं अधिक धन बहुत सी अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय करते हैं और इसी प्रकार की वस्तुओं के सम्बन्ध में सरलतावाले सिद्धान्त का प्रयोग करने की आवश्यकता होती है।

सम्पत्ति को परिमित रखने का एक मार्ग-दर्शक सिद्धान्त रस्किन ने बतलाया

है, जो इस प्रकार है—'किसी वस्तु पर हमारा वास्तविक अधिकार तो उसी सीमा तक होता है, जिस सीमा तक हम उस वस्तु को अपने उपयोग में लाते हैं। केवल वही और उतनी चीजें अपने पास रखना अच्छा होता है, जिनका हम उपयोग कर सकें और वही हमारी वास्तविक सम्पत्ति है। इनके सिवा दूसरी या फ़ालतू चीज़ें, जिनका हम उपयोग न कर सकते हों, हमारी वास्तविक सम्पत्ति नहीं हैं और हमारे लिए खराबी ही पैदा करनेवाली हैं।'*

लोग कहा करते हैं, कि समाज में आर्थिक तथा राजनीतिक बातों अथवा तत्वों में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। अब इस बात का विचार रखते हुए हम आगे कभी यह बतलाएँगे कि सरल जीवन व्यतीत करने का राजनीतिक बातों के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है और राजनीति के मामलों पर सरल जीवन के क्या-क्या प्रभाव पड़ सकते हैं।

—अनुवादक, श्रीरामचन्द्र वर्मा।

* देखो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी-प्रेस-द्वारा प्रकाशित वर्ल्ड क्लैसिक्स लाइब्रेरी नामक पुस्तक-माला का म्यूनेरा पलवेरिस (Munera Pulvoris) नामक ग्रन्थ अथवा इसी ग्रन्थ के दूसरे संस्करण।

[२८वें पृष्ठ का शेषांश]

उसने सहमी आँखें उठाईं—किन्तु मेरा भी तो व्यक्तित्व है, मान-सम्मान भी।

'छोड़ो उस चर्चे को। मैं अपनी घर की लक्ष्मी लेने आया हूँ।'

'चलूँगी; किन्तु उस दिन चलूँगी, जिस दिन कोई भी परिस्थिति मेरे पत्नीत्व को निष्पेपित न कर सकेगी, उस दिन मैं चलने की चेष्टा करूँगी।'

वह नीचे उतर गई और लौटकर देखा तक नहीं।

गोधूलि

श्रीमती उषा देवी मित्रा

(१)

हलकी वायु को गोद में दबाये वर्षा की नन्ही-नन्ही बूँदें गिर रही थीं। आकाश था मेघाच्छन्न और भीगी मिट्टी से फैल रही थी एक मीठी सुगन्ध।

टूटे-फूटे घर के सामने की दालान में वह पड़ी थी, बासी फूल-जैसी शुष्क-म्लान-शान्ता!

प्रतिवासिनी श्यामा ने द्वार से पुकारा। शान्ता उठी, ऐसी उठी मानो अपने ही शरीर का उसे बोझ-सा लगता हो, जिस भार के नीचे वह दबी जाती हो। द्वार खोला और आदर से श्यामा को पीढ़े पर बैठाया।

'अब जी कैसा है दुलहिन? कई दिन के बाद आई। घर-गृहस्थी के धन्धे करो, बहू-बेटी की रखवाली करो, जी इधर ही लगा रहता है। न जाने वह कैसी है। कमीज सिल गये और दवा से कुछ लाभ है?'

'बहुत काकी, आपकी दवा क्या है, धन्वन्तरी की बटी है। देखो न, कितने कपड़े सिल गये।'

कपड़े सीना उसकी उपस्थित जीविका थी। उसका अतीत चाहे कैसा भी सुनहला रहा हो; किन्तु अब तो वह मजदूरनी-मात्र थी।

उस अतीत का इतिहास जैसा आँसू जड़ित वैसा ही करुण भी था। फिर इससे क्या? वर्तमान में तो वह एक दुःखी-दरिद्र स्त्री के सिवा कुछ नहीं है, दिन-रात परिश्रम करना और मुहल्ले के कपड़े सीना, शादी-विवाह में काम करना, बस यही उसकी जीविका, उसका अदृष्ट और नग्न सत्य था।

उस घर में रहते उसे एक युग-सा बीत चुका था।

विधवा शान्ता को एक अँधेरी रात में उस घर से और वहाँ के दैन्य से, अभाव-परिश्रम से, परिचय आरम्भ करना पड़ा था। उस रात को, और उसके भी पहले के उस कोकिला गुञ्जरित संसार को वह प्रायः भूल बैठी थी। अब वर्तमान था उसका वास्तव।

दो-चार नहीं, सन्तान उसकी एक थी—रूपसी, षोडशी नमिता!

'ज्यादा श्रम न किया करो दुलहिन, अपने चेहरे को तो देखो, कैसी दशा हो रही है।'

शान्ता मलिन हँसी हँस पड़ी।

'हँसती हो दुलहिन, सच कहती हूँ, किसी दिन सब लोग देखेंगे, तू अकड़ी पड़ी है। ऐसा अन्धेर कहीं न देखा था न सुना था। जवान लड़की सज-धजकर इठलाती फिरे और काम करते-करते माँ का श्वास रुके।'

'वह बैठी कहाँ रहती है काकी, पढ़ती जो है, रोज़ कालेज जाती है न।'

'वही तो कह रही हूँ, अब उसे पढ़ने की ज़रूरत क्या है? कुछ नौकरी तो करनी नहीं है। मेहनत-मजूरी करके माँ मरने बैठी है, उधर लड़की जूते-मोज़े पहने घूमती फिरे, कालेज जाये? कालेज जाना बन्द कर दे। आप फटे कपड़े पहने, रूखा-सूखा खाये और लड़की को राजरानी-से कपड़े पहनाये। ऐसा अन्धेर! शहर-भर में यही चर्चा है। यह बात है ही ऐसी।'

'एक तो है काकी, दुःख दारिद्र्य में पली है। कालेज की फीस लगती नहीं, कह-सुनकर माफ़ हो गई। रहे कपड़े, अच्छे कपड़े उसे कहाँ पहना पाती हूँ।'

'चुप भी रह। शादी-ब्याह की चिन्ता कर, पढ़ा-लिखाकर मेम बनाने से थोड़े ही चलेगा। मैं तो अचम्भे में हूँ, ऐसी सयानी लड़की जिसके गले में झूले, वह नींद भर सोती कैसे है? जाति में रहना है तो जातिवालों की होकर रहो। उसे ठिकाने से लगा दे, वरना तेरा छुआ पानी कौन पियेगा?'

शान्ता कह सकती थी, यदि समाज दण्ड देने का विधाता है, तो रक्षा करने का क्यों नहीं? यदि किसी के व्यक्तित्व पर भी वह अधिकार का दावा रखता है तो उस व्यक्ति के दुःख, अभाव, सुख, सुविधा किस पर निर्भर हैं?

वह कह सकती थी, पूछ सकती थी, बहुत कुछ; किन्तु उसने कहा कुछ भी नहीं। नहीं, एक छोटा अनुयोग भी नहीं।

'कहती थी, नीलाम्बर से लड़की का ब्याह कर दे, कह-सुन कर मैं उसे राज़ी कर लूँगी।'

'उस बूढ़े नीलाम्बर के साथ?'—अचानक उसके मुँह से निकल पड़ा।

कुछ देर तक शान्ता की ओर देखकर श्यामा व्यंग्य-परिहास से मचल सी पड़ी—'कहाँ का राजकुँवर उसे ब्याहने आता है, सो भी मैं देखूँगी। इधर निन्दा के मारे तो कान पके जाते हैं, कुछ खबर भी है? मर्दों के साथ वह घूमती- फिरती है।'

'किन्तु मेरी नमिता तो ऐसी नहीं है काकी।'

'नहीं, सती-सावित्री है।'

शान्ता चुप रही।

'उससे कहूँ?'

'क्या?'—मानो वह स्वप्न से जागी।

'नीलाम्बर से ब्याह के लिए।'

'नहीं।'—छोटा और संक्षिप्त उत्तर था; किन्तु फिर भी न जाने क्यों वृद्धा और कुछ कह न सकी, एक शब्द भी नहीं। न कुछ मन्तव्य ही दे सकी।

(२)

खिले कमल-सी अपने-आप में मस्तानी नमिता चपल गति से आकर खड़ी हो गई—'मिस्टर राय आये हैं माँ !'

हाथ का काम छोड़कर शान्ता लौटी—'कब लौटे पहाड़ से प्रभात ?'

'कल माँ, बाबूजी साथ आये हैं। महीना-भर के लिए बँगला किराए पर ले लिया है।'

धनवान् का एकमात्र पुत्र प्रभात, प्रभात ही सा स्वच्छ-सुन्दर लगता था। वहाँ होस्टल में रहकर पढ़ता था, घर था दूसरे शहर में। वह था एम० ए० का छात्र और नमिता थी आई० ए० की मेधावी छात्रा।

जब वह मूल्यवान् उपहारों से नमिता का घर भर देता, तब केवल लज्जा ही नहीं वरन् एक असहाय अपमान से शान्ता का शान्त-चित्त विद्रोही बन बैठता। नमिता उसे हँसकर ले सकती थी; किन्तु वह लेती नहीं थी। बार बार शान्ता अस्वीकार करना चाहती। कहने लगती—'प्रभात, इस अन्धेर को तुम रोको; वरना मैं पागल हो जाऊँगी।' उत्तर में प्रभात एक बालक-सा कहने लगता—'और उसे नहीं रोकतीं, अपनी नमिता को, जो दर्जनों रूमाल बना-बनाकर मुझे देती है। गुलूबन्द, नेकटाई कुशन, कितना कहूँ, रोकने की कौन कहे, ऊपर से आप स्वयं उनमें फूल-बेल काढ़ने बैठ जाती हैं; क्या मैं तुम्हारा लड़का नहीं हूँ और कब ऐसी कौन सी अनमोल चीज़ मैं लाया हूँ माँ ?' अन्त में शान्ता को चुप रहना पड़ता।

'बाबूजी से कहा था माँ !'—लज्जित स्वर से प्रभात ने कहा। शान्ता चुपचाप उसका मुँह निहारने लगी। नमिता हट गई।

'विवाह में उनका मत है बेटा ?'

'हाँ माँ ! इसी से तो वे यहाँ आये हैं।'

इतनी बड़ी खुशी की बात सुनकर भी जब शान्ता चुप रही, तब प्रभात का विस्मय सीमा-रेखा तक को लाँघ गया।

'क्या आपका मत नहीं है ?'

'सोच रही हूँ, अन्त तक उनका मत...'

'नहीं-नहीं माँ, तुम निश्चिन्त रहो, यद्यपि मुश्किल से वे राज़ी हुए हैं; किन्तु उनका वचन मूल्यहीन नहीं है।'

शान्ता की हँसी म्लान हो गई—'धनवानों का मत भी कहीं मूल्यवान् हुआ है ?'

'आप कहती क्या हैं ? क्या वे आदमी नहीं हैं ?'

'अवश्य हैं; किन्तु...नहीं...जाने दो।'

उस दिन प्रातःकाल ही शान्ता का घर प्रतिवासियों से भर उठा। आये—बहुतेरे, कोई उसके अदृष्ट को सराहने, कोई किसी त्रुटि पर मुँह फेरकर हँसने।

श्यामा बोली—यदि लड़का मिल गया था तो अभी तक छिपाये क्यों थीं दुलहिन ?

'अभी-अभी तो मिला है काकी, भला यह ऐसी कौनसी बात थी जो तुमसे छिपाती ? चाहे तुम भूल जाओ ; किन्तु मैं कैसे भूलूँ ? उस दिन की बात कह रही हूँ, जिस दिन केवल तुम्हीं एक थीं, जिन्होंने वैसे विपद् के समय मुझे गोद में खींच लिया, मेरी माता बन बैठी थीं ; क्या भूल गईं ? उस दिन तो मेरा कहीं कोई नहीं था काकी, नमिता थी पेट में। इस मुहल्ले में किसी से न जान थी न पहचान ; किन्तु एक तुमने अपरिचिता विधवा से चिर परिचिता की नाईं बर्ताव किया। उस अँधेरी में मैंने हठात् जो कुछ पाया था, उसकी तुलना कहीं नहीं है, न पृथ्वी में, न आकाश में।

'छोड़ो उन बातों को दुलहिन, एक के दुःख में यदि दूसरा न खड़ा होगा तो चलेगा कैसे ? वैसे दिन ईश्वर किसी को न दिखावे, ऐसी छोटी अवस्था में पेट में बच्चा, बड़ी तकलीफ सही बहू तुमने ! अब खुशी का दिन आया, उसका स्वागत करो, उन दिनों को भूलो।'

(३)

तो उसकी खुशी थी, असली खुशी ही की तरह ; वैसी ही इठलाती-सी, झूमती-सी, रामधनुष-सी नहीं, धनवानों की खुशी और दरिद्र शान्ता की खुशी में तिल-सा भी अन्तर नहीं था।

यद्यपि अतिरिक्त परिश्रम से वह हाँफ रही थी ; किन्तु फिर भी दौड़-धूप में विराम नहीं था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था कि किसी भी एक पल में उसका दुर्बल श्वास रुक जायेगा।

वर-प्रभात धनवान् था ; किन्तु दरिद्र कन्या-नमिता का विवाह दरिद्र रीति से हो रहा था। शहनाई नहीं, ढोल नहीं, भोजन का बृहद् आयोजन नहीं। कड़ाई, डेग चढ़े जरूर थे ; किन्तु छोटे-छोटे। और उस ओर था विपरीत। जाने कितने प्रकार के बाजे, गैस, पान-भोजन, धूप, चन्दन। बाहर शामियाने के नीचे वर के पिता गम्भीर मुख से बैठे थे। मित्र रमाशंकर ने पूछा—राय साहब, मेरी तो समझ में बात नहीं आती, प्रभात का विवाह और ऐसी दरिद्र रीति से।

उत्तर में वह बम की तरह फट पड़े—मैं तो घर का दरबान ठहरा भैया, प्रभात और उसकी माँ जो करें सो हो। अरे इस घर में शादी करने के लिए मेरे घर रोना-पीटना तक मच गया था, क्योंकि मैं राज़ी न था। फिर भी बोला, शादी बड़े मकान से और मेरे पदोचित इज़्ज़त के साथ होनी चाहिए। भैया, सब खर्च अपने सिर पर लेने को मैं राज़ी हो गया ; किन्तु यहाँ सुनता कौन है, वह कहने लगी, 'ऐसा नहीं हो सकता।'

'कौन राय साहब ?'

'वही राजरानी, मेरी समधिन ! कहला दिया कि लड़की उन्हें लेना है, मेरी दरिद्रता नहीं ; तो इस कुटिया में बैठकर लड़की को उन्हें लेना पड़ेगा । और भी सुनो, कहलाया, दीन-दुःखी का भी आत्म सम्मान रहता है । लो सुन लो, मानो मैं उनका आत्म-सम्मान लूटना चाहता था !'

'ऐसा घमण्ड ! ऐसी स्पर्द्धा !'

'करता क्या ? चुप रहा, लड़का है, और एक ही ।'

लग्न का समय निकट था । मण्डप के नीचे दूल्हा-दुलहिन लाये गये, बर-यात्री विवाह सभा में उपस्थित थे ।

शालिग्राम-शिला के सामने बैठा पुरोहित वेदमन्त्र पढ़ने में लगा था । निकट शान्ता खड़ी थी ; वह उन गिरते हुए आँसू के बूँदों को किसी प्रकार छिपा नहीं सकती थी, कौन जाने कौनसे दुःख या सुख, कौनसी वह अमिट स्मृति, कौन-सी व्यथा उसे विकल कर रही थी ।

रमाशंकर चौंका, अरे ! यह तो शान्ता है !

वर के पिता ने विस्मित दृष्टि फेरी—'क्या तुम इसे पहचानते हो ?'

'अच्छी तरह, यहाँ यह कैसे आई ?'

'क्या कहते हो भाई, यही तो समधिन है ।'

'क्या कर बैठे—राय साहब ?'

'क्यों क्या है, कुछ साफ़-साफ़ भी तो कहो ?'

इसके बाद रमाशंकर ने जो कुछ कहा, उसके बाद विवाह करना, राय बहादुर के लिए असम्भव था । एक पतिता की कन्या उनकी बहू नहीं बन सकती थी ।

विद्युत्-शिखा की तरह बात फैल गई, विवाह-आसन से वर को उठा लिया गया ।

जब शान्ता ने अपने चारो ओर आँखें फैलाकर देखा, तब वहाँ एकदम सन्नाटा था । कहीं कोई नहीं, एक बच्चा भी नहीं । थी केवल नमिता, बहू बनी आसन पर बैठी, इतना ही । उस शरीर में स्पन्दन तक नहीं था । कदाचित्, विराट-लज्जा, अपमान से उसकी समाधि लग गई हो या आँसुओं की बूँदें जमकर बरफ के टुकड़े में परिवर्तित हो गई हों ।

'नमिता !'

माँ के उस सहज स्वर को सुनकर नमिता स्तब्ध रह गई । वैसे सर्वनाश के बाद भी माता के मुख की रेखाएँ अकुञ्चित थीं । उस चेहरे को देखकर समझना कठिन नहीं वरन् असम्भव था कि उस हृदय में उस समय भूमिकम्प का कम्पन था, या महासागर की-सी प्रशान्ति ।

नमिता माँ के कंठ से लिपट गई एक नीरव, आश्रय-च्युता पक्षी शावक की तरह ।

(४)

'कहाँ जा रही है नमिता !'—ज्वर से काँपती माँ ने पूछा।

'बाहर, अभी लौटी।'—वह चल पड़ी।

'नमिता !'

वह लौटी—'कुछ कहोगी ?'

'कहती थी...।' शान्ता चुप रही।

विस्मय-निर्वाक् नमिता माँ का मुह निहारने लगी। इतनी बड़ी अवस्था में उसने माता को इस तरह सोच-विचार करते, संकोच-द्विविधा करते कभी देखा न था।

'कहो माँ !'—नमिता माँ के निकट बैठ गई।

शान्ता चुप रही। वह कहती कैसे, जो बात उसके नारीत्व पर, मातृत्व पर कुत्सित इंगित करती है, उसके नाम के साथ अ-सती शब्द जोड़ देती है, उसे वह मुँह से निकालती ही कैसे ? किन्तु फिर भी उसे कहना था, बाहर जाने से निषेध करना था ; कहना था—अभी बाहर न जाओ, वहाँ तुम्हारे लिए अपमान का वज्र मँडरा रहा है। यदि झूठ है, अविचार है, अन्याय है, तो इससे क्या ; किन्तु आज का नग्न-सत्य तो यही है। वह कहती कैसे ? चाहे उस कुत्सा के मूल में केवल अनुमान हो, ईर्ष्या, प्रतिशोध हो ; किन्तु वही तो था उसके उस दिन का अदृष्ट। कहने के लिए शान्ता ने मुँह खोला। किन्तु दूसरे पल उसने संकोच-लज्जा से मुँह फेर लिया—नहीं-नहीं, उस अपमान को अपने ही हाथों, अपने शरीर में नहीं लेप सकती, और फिर लड़की के सामने ! वह माँ थी—जननी, फिर सन्तान के सामने—मातृत्व को, नारी के श्रेष्ठ सौन्दर्य को कलंकित कैसे करती ? जो शब्द नारी के शुभ्र-शुचि नारीत्व को अंधकूप में ढकेल देता है, उसे वह उच्चारण कैसे करती ?

किन्तु फिर भी वह बोली—अभी महीना-पंद्रह दिन बाहर मत जाओ नमिता !

'ऐसा क्यों ?'

संयत स्वर से शान्ता बोली—क्योंकि तेरी माँ समाजच्युता है। बाहर तेरे लिए स्वागत नहीं, अपमान व्यग्र बाँह बढ़ाये खड़ा है। अब तो तेरी माँ का परिचय......

नमिता लौटकर खड़ी हो गई। बोली—चुप रहो माँ, मेरी माँ का परिचय माँ ही यथेष्ट है, इससे ज़्यादा की ज़रूरत नहीं।

'किन्तु जगत् को तो उसकी ज़रूरत है नमिता, और प्रमाण के लिए तेरी माँ के पास कोई चिह्न नहीं है, एक तिनका भी नहीं, जो इसे प्रमाणित कर सकते थे, वह तो नहीं हैं बेटी !'

'यदि उसे प्रमाण की ज़रूरत है, तो रहा करे ; किन्तु अपराधिन की तरह प्रमाण के कठघरे में खड़ी होकर अपने सती होने का परिचय न मेरी माँ दे सकती

है, न मैं। उस अपमान की कसौटी पर चाहे तुम अपने को चढ़ा सको; किन्तु तुम्हारी बेटी वैसा नहीं कर सकती। तुम्हारा परिचय तुम हो, जी चाहे दुनिया उसे विश्वास करे, जी न चाहे न करे।'

'अरे, तू फिर भी जा रही है?'

'विस्मित हूँ माँ, तुम्हारा वह साहस आज कहाँ गया? किसलिए और क्यों तुम मुझे रोक रही हो? इतने दिन तो तुम अपने-आप ही दुनिया के सामने अपनी सत्ता को सँभाले ऊँचे सिर से खड़ी थीं; न कोई आगे था न पीछे, फिर आज वह आत्म-निर्भरता का साहस, शक्ति कहाँ चली गई?'

शान्ता फीकी हँसी हँसी—'किन्तु नारी के लिए यह एक ऐसी लज्जा है नमिता, नहीं-नहीं, भूल रही हूँ, नारी शायद इसे सह भी ले और साहस के साथ इसके सामने खड़ी-भी हो जावे; परन्तु माता के लिए तो यह एक अमोघ वज्र ही है बेटी। उस वज्र के नीचे से सिर निकालना असम्भव शायद न हो; किन्तु कष्टसाध्य तो अवश्य ही है।

'तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें नहीं सोहती माँ! क्षमा करना, इस बालिका-सी भीरु माँ को मैं कैसे पहचानूँ? मेरी तो पहचान उसी साहसी, धीर, सहिष्णु समाधिस्थ माँ से है। और पहचानूँगी भी उसी को जन्म-जन्मान्तर तक। जाती हूँ।'

(४)

वर्षा थी पूर्ण यौवना। भद्र मुहल्ले के एक छोटे किन्तु नूतन मकान में बैठी शान्ता हिसाब मिला रही थी। हिसाब उसकी दुकान का था। दुकान थी दर्ज़ी की। कई दर्ज़ी उसने नौकर रख लिये थे, स्वयं तो दुकान पर बैठती न थी, देख-भाल करती थी। नमिता बी० ए० में पढ़ती थी और दो-एक गृहस्थ की लड़कियों को पढ़ाती थी। दिन उनके लौट चुके थे। अच्छा भोजन, सुन्दर वस्त्र; सोच-फिक्र अन्न के लिए बिलकुल नहीं!

एक सजे हुए कमरे में कुर्सी पर नमिता चुपचाप बैठी थी, खुली किताब मेज़ पर वैसी ही पड़ी थी। न जाने कौन-सी व्यथा-रोदन की नदी में डूबकर उसका हलका श्वास भारी हो रहा था। कौन जाने कौनसी स्मृति के टुकड़े उसके देह-मन को आच्छन्न कर बैठे थे? कौन-सा विस्मय, कौन-सा वह रूढ़ लाञ्छन अथवा आघात, संसार की ओर से घृणा, विराग से उसे विमुख कर रहे थे? विस्मय नहीं तो क्या—वह तो किसी प्रकार सोच न पाती थी कि वैसा प्रेम-अनुराग एक पल में रूठकर बैठ कैसे सकता है, गृहीता को त्याग किस तरह किया जा सकता है। अपने पति, शायद वह प्रभात की बातें सोच रही थी और जीवन के उस अनोखे शुभ या अशुभ पल को। यद्यपि उन्नीस वर्ष की अवस्था में उसके सब कुछ का निबटारा हो चुका था, सब कुछ व्यय हो गया था, लुट चुकी थी—सम्पूर्ण रिक्ता—सर्वशान्ता, और जमा के स्थान में मात्र एक गोल शून्य बच पाया था; किंतु फिर

भी एक दिन की विवाह-सभा अमिट रह गई थी—उसके पलकों में, हृदय में। राज्य वैसे ही शत्रु-हीन था ; किंतु राजा के स्थान में एक प्रतारक, भण्ड-दानव अड़ गया था। कदाचित् वही हो उसके जीवन का सत्य, व्यंग्य और परिहास।

'नमिता कर क्या रही है बेटी ? न हाथ-मुँह धोया, न कपड़े बदले। चलो, चाय ठण्डी हो रही है।'

नमिता ऐसी जल्दी उठी, कि उस गति को देखकर माँ का मुँह मुरझा गया, आँखों में आँसू भर आये। वह माता थी—नमिता की गर्भधारिणी ; किन्तु फिर भी वह अपनी सन्तान के लिए कर कुछ भी नहीं सकती थी। एक दिन दारिद्र्य-अभाव से युद्ध कर जिसे आराम-सुख से रखा था, जिसके लिए किसी एक दिन उसने अति परिश्रम से अपने स्वास्थ्य को मिट्टी में मिला दिया था, जिसके पैर में काँटा चुभने से वह अधीर हो जाती थी, जिसका मलिन मुख उसके आहार-निद्रा को भुला देता था ;—उसी के लिए आज वह कर कुछ न सकती थी। शायद कुछ करने, कहने-सुनने के लिए कुछ अवशिष्ट रहा न हो, नहीं, एक छोटी सान्त्वना भी नहीं। और आश्चर्य यह था कि उसके सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए—वह, नारी के श्रेष्ठ और अमूल्य अधिकार को भी,—हाँ—उस माँ के अधिकार को भी त्यागने के लिए प्रस्तुत थी। अपने आपको बलि-वेदी पर चढ़ाने में जरा भी नहीं हिचकती थी ; किन्तु माँ के अधिकार, शक्ति के बाहर जो एक वस्तु थी, उसे वह पाती कहाँ, लाती कहाँ से, कौन से धनी या निर्धन गृह से चोरी कर लाती ? उस पति-प्रेम, पुरुष के उस स्पर्श को, नारी के उस पूर्णता को वह किस गोपन से चोरी करती ? नहीं, वह तो माँ की शक्ति के बाहर की वस्तु थी। सच तो यह था कि उस दिन वह सन्तान के लिए कुछ न कर सकती थी, केवल आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने के अतिरिक्त !

'चलो माँ भूख लगी है, कब तक खड़ी रहोगी।'

शांता जल्दी से उठी, आँसू छिपाने के लिए उसने मुँह फेर लिया ; किंतु इतनी सावधानी जिसके लिए थी, उससे वे आँसू शायद ही छिपे रहे हों।

(६)

उस दिन टेलीफ़ोन आफ़िस में अचानक भेंट हो गई प्रभात से। नमिता गई थी बी० ए० का रेज़ल्ट देखने। प्रभात गया था दूसरे काम से। तब वह वकील था और पिता को मरे कोई दो महीना बीत चुके थे। वहाँ आये ज़्यादा नहीं, उसे कुल एक रात बीती थी।

प्रभात नमिता के निकट जाकर खड़ा हो गया ; किन्तु नमिता ने उसे देखकर भी न देखा, उपरान्त वह व्यस्त भाव से बाहर निकल पड़ी। प्रायः दौड़ती-हाँफती वह घर पहुँची। पीछे-पीछे प्रभात भी आकर खड़ा हो गया।

देखा—शान्ता ने उसे देखा नहीं, परिवर्तन उसमें कुछ भी नहीं था। शान्ता को जान पड़ा, प्रभात—उसका दामाद और भी सुन्दर हो रहा है ; किन्तु वह उससे कुछ

कह न सकी, शब्द का एक वर्ण-मात्रा भी नहीं—न आदर का, न अभ्यर्थना का। कदाचित् वह सब कुछ भूल बैठी हो।

यद्यपि वह नीरवता तीनों को खटक रही थी, फिर भी कोई बोल न सका; और बोलते भी क्या ?

'नमिता पास हो गई माँ !'—पहले बोला प्रभात ही। नमिता वहाँ से हट गई। क्यों ? कौन जाने किस लिए, शायद आँसू बहाने, एकान्त में अपने से समझौता करने, कदाचित् विराग से, उसके मन की बातों को तो वही जाने।

प्रभात हाथ जोड़कर खड़ा हो गया—बच्चे को क्षमा करो माँ !

शान्ता विकल हो पड़ी—भूल सभी से होती है बेटा। बैठो स्नान-भोजन करो।

'नहीं, पहले मुझे सब कुछ कह लेने दो। रमाशंकर झूठा था। जिस दिन इस बात का पता चला, उसी दिन मैं चल पड़ा। केवल कहने आया हूँ नमिता को आप मेरे हाथ सौंप चुकी थीं।'

'इसे कौन अस्वीकार कर सकता है प्रभात। न तुम; न हम और न आकाश के देवता।'

'कल से भटक रहा हूँ, घर नहीं मिला।'

'उठो, स्नान-भोजन कर लो।'

• • • •

पति-पत्नी खुले छत पर एक दूसरे के सामने खड़े थे—माँ ने क्षमा कर दिया नमिता ! किन्तु तुम, तुम क्या मुझे क्षमा नहीं कर सकोगी ?

नमिता के पैर-तले की धरती हिलने लगी, सिर में चक्कर आने लगा, शरीर अवश-शिथिल-सा हो पड़ा। यदि प्रभात उसे न थामता तो वह गिर पड़ती। परम आदर-सम्मान से प्रभात ने पत्नी का सिर गोद में रख लिया, बोला—नमिता, क्षमा करो रानी !

मुँह से नहीं; किन्तु नमिता के उन अधखुले नेत्रों से उसे शायद क्षमा मिल गई हो। वह खुशी से मचल सा पड़ा—जानता था, मेरी नमिता सब कुछ माफ़ कर देगी—पल भर में। तुम मुझसे रूठकर रह ही कब तक सकती हो ? तभी तो जैसे ही मैं जान पाया, वह बात झूठ थी, उसी दिन चल भी पड़ा।

नमिता के उस हरे सपने पर एक काला नाग गरज उठा, वह उठ बैठी—किन्तु यदि वह सच होती, उस बात में कुछ भी सत्यता रहती तो अपनी विवाहिता को, सहधर्मिणी को बिना अपराध त्याग देते, बस यही कहना चाहते हो न ?

'फिर रहना तो अपने को समाज में ही है न नमिता ! भूल मत समझो, ज़रा मेरी परिस्थिति को समझने की चेष्टा करो।'

[शेषांश १६वें पृष्ठ के नीचे]

निरा अ-बुद्धिवाद

श्री जैनेन्द्रकुमार

सुना जाता है कि शुतुरमुर्ग़ जो अफ्रीका के रेतीले मैदानों में होता है विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रु की टोह पाता है तो और तो कुछ करता नहीं, रेत में मुँह दुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भाव से आकर उसका काम-तमाम कर देता है। वह जानवर शुतुरमुर्ग इस भाँति शांति पूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरने की पद्धति से सहमत नहीं हैं। उसका मरना हमारे मन से कोई ग़लत बात नहीं है। उसकी बेवकूफ़ी की सज़ा ही समझिए, कि मौत के रूप में उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शुतुरमुर्ग मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो; लेकिन इतना कहकर बात को हम टालें नहीं। उसे मूर्ख कह लेकर आदमी शायद स्वयं अपने को कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमें इसमें सन्देह है कि दूसरे को मूर्ख कहने के आधार पर खुद बुद्धिमान् बनने का ढंग ठीक है। तिसपर वह शुतुरमुर्ग क्यों मूर्ख है? और हम क्यों वह (मूर्ख) नहीं हैं? और मूर्ख होने में सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बात सोचने की हैं।

घर में एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती या बक्स या कुर्सी के पीछे होकर मुँह ढककर चिल्लायेगी—'अम्माँ! मुन्नी नहीं है! मुन्नी को ढूँढ़ो।' अगर अम्माँ एक बार में ध्यान नहीं देगी तो मुन्नी उससे उलझ पड़ेगी। कहेगी—'अम्माँ, अरी अम्माँ, देख।' और जब अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होगी तब सामने कुछ दूर जाकर मुँह की ओट करके कहेगी, 'मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है, मुन्नी को ढूँढ़ो।'

तब मुन्नी की अम्माँ भी सारे कमरे में इधर-उधर, कभी कलमदान के नीचे, कभी होल्डर के निब में, ग्लास में या सूई के नकुए में, यहाँ-वहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नी को ढूँढ़ती है, कहती जाती है,—'अरे मुन्नी कहाँ है? (कपड़े को उलट-पलटकर) अरे कहाँ है। मुन्नो, ओ मुन्नी!'

और मुन्नी सामने खड़ी-खड़ी चोरी-चोरी अम्माँ के यत्नों की विफलता देख-कर और उसमें रस लेकर मुँह को दोनों हाथों से ढककर कहती है—'मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है! ढूँढ़ो।'

अम्माँ बहुतेरी ढूँढ़ती है, पर सामने खड़ी हुई मुन्नी नहीं मिलती। फिर ओह! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है। मिलने के बाद ही दो क़दम भागकर फिर मुँह दबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—'अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो।'

मुन्नी को इस खेल में बड़ा आनन्द आता है। हमें भी आनन्द आता है। हम कहते हैं—'मुन्नी है!' और वह भागकर किसी वस्तु की ओट लेकर कहती है—'मुन्नी नहीं है।' अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मन में इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्ता पूर्वक समझावें। कहें, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखने पर औरों की अथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है; यथार्थता समझ, लड़की, और मूर्खता छोड़। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करने के लिए कभी अपने को मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेल को हमने प्रसन्नता-पूर्वक खेल लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता ग़लत चीज़ है और मुन्नी का उससे उद्धार ही हमें करना चाहिए।

हमें सन्देह है कि मुन्नी को यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायँ तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ता को मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खता को स्पष्ट रूप में तर्क-शुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी ग़लत है? जब वह कहती है कि 'वह नहीं है' तब भी वह ग़लत कहाँ कहती है; क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि 'वह नहीं है।'

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणा से भिन्न क्या वस्तु है? भिन्न होकर वह है भी या नहीं?—यह अभी निर्णय होने में नहीं आया। न कभी आयेगा। अकाव्य-रूप में हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सत्य मानव के लिए चिर-अप्राप्य, अतः चिरशोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्य से बाहर भी व्याप्त नहीं है? जो बाहर भी है वह मनुष्य के भीतर ही कैसे समायेगा? उस सर्वव्यापी सत्य की मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयं में सत्य नहीं हैं। अपने सब ज्ञान के मूल में 'हम' हैं। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ न हुआ एक-सा है। हर सत्य को अपनी सत्ता के लिए हम पर इस निमित्त निर्भर रहना होगा, कि हम उसे जानें। यह बात साफ़ है। इसको कोई समझने से इंकार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बात की मान्यता से बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हमसे अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नहीं जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शुतुर-मुर्ग को ग़लत और अपने को ठीक कहें।

शुतुरमुर्ग को तो शायद हम ठीक कह न सकेंगे। उसको ठीक कहने के लिए

हमें अपने को इनकार करना होगा। हम तो दोनों को देखते हैं न—शुतुरमुर्ग को भी, उसके शत्रु को भी—इस लिए रेत में सिर दबाकर शत्रु से बचने की शुतुरमुर्ग की चेष्टा को हम सही कैसे कह सकते हैं ? और शुतुरमुर्ग के ग़लत होने का प्रमाण उसी के हक में यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इस लिए यह तो असंभव है कि शुतुरमुर्ग ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी हालत शुतुरमुर्ग से इतनी ही भिन्न हो, कि हम शुतुरमुर्ग न होकर आदमी हैं। अन्यथा कैसे कहें, कि यथार्थ में हम दोनों में बुद्धि की अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि शुतुरमुर्ग बुद्धि से शुतुरमुर्ग है, लेकिन बात चीत में आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा ? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नहीं दीखता है, वह इसीलिए तो नहीं दीखता कि नहीं है'—शुतुरमुर्ग के ज्ञान का तल यह है। हम मानव उसे थोथे अज्ञेयवादी, अदृष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होने में क्या प्रयोजन ? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है। और शुतुरमुर्ग के निकट जो दृश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानव-रूपी शुतुरमुर्ग का जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—'जो अनिष्ट है, उसे मिटाने का सीधा उपाय है उसे न देखना। इसी भाँति अनिष्ट पर विजय होगी। अनिष्ट यों ही असत् होगा। इसलिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मीच लो। भय की आशंका और सन्देह की शंका से इस भाँति मुक्ति प्राप्त होगी।'

अब, क्या मानव-बुद्धि द्वारा निर्मित तर्क-सम्मत नीति भी लगभग इसी प्रकार की नहीं है ?

उस नीति पर चलने से शुतुरमुर्ग शत्रु से नहीं बच पाता। शत्रु को उलटे अपनी ओर से वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रांत है। हम भी खुद ऐसा मानते है।

पर उस नीति की (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालत में यह कहा जा सकता है, कि मरना तो सबको है। कौन नहीं मरता। असल दुश्मन मौत है। किसी और को दुश्मन भला क्यों माने। कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवता का साधन है, वाहन है। असल में तो भाग्य के पंजे में सब हैं। यम उसी भाग्य का प्रहरी है। उसके आघात से तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमें आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचने का नहीं है, प्रश्न उसके भय से बचने का है। और मुँह दुबका लेने से क्या शुतुरमुर्ग सचमुच भय से छुटकारा नहीं पा जाता ? फिर वह मर भी जाय तो क्या ?

मानना होगा कि प्रश्न अन्त में किसी भी शत्रु से बचने का उतना नहीं है। उतना क्या, बिलकुल भी नहीं है। तमाम प्रश्न (उसके) भय से बचने का है। यह तो हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौत के चंगुल से बचना नहीं होगा। इस प्रकार के सब प्रयत्न निष्फल होंगे। अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरने की घड़ी हम सीधे ढंग से मर जायँ, पर मरने से पहले थोड़ा भी न मरें। अर्थात्, मरने के भय से बचे रहें।

क्या यही लक्ष्य नहीं है? और क्या इसी लक्ष्य के साधन में मनुष्य ने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नहीं आविष्कृत किये? फिर शुतुरमुर्ग को मूर्ख क्यों कहते हो?

शुतुरमुर्ग के वकील के जवाब में क्या कहा जावे? पर एक तो भय से बचने की पद्धति स्वयं भय का भय है। यह शुतुरमुर्ग की है। अधिकांश में मानव के यत्न भी उसी पद्धति के हैं। पर दूसरा, भय को निर्भयता से जीतने का उपाय है। इसमें भय से छिपा नहीं जाता, उस पर विजय पाई जाती है। उसका सामना किया जाता है।

शुतुरमुर्ग ने अपने को रेत में गाड़ लिया और भय से बचा लिया। इस भाँति वह सहज भाव से मर गया। आदमी ने धर्म की सृष्टि की, उसमें अपने को गाड़ लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भाव से मर गया। धर्म से उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मंतव्यों की सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाड़े रखकर वह हार्दिकता पूर्वक मर गया। असल में सब बात मरते समय सहज भाव रखने की है। जो जितना निर्भय है, सरल भाव से मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धि की निगाह को बाँध कर कहीं न कहीं गाड़ लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड़ लेना जरूरी है। पर इसमें और शुतुरमुर्ग की क्रिया में अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धा-प्रेरित हो सकती है।

एक प्रकार के मतवादी हैं जो तर्क पूर्वक सिद्ध करते हैं कि आँख चारों ओर देखने के लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तु का पल्ला पकड़कर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरह की साइन्सों के चौखूँटे नक्शे बनाकर दिया करते हैं।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञान की बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेचन-शील और संभ्रांत और सुखमय होता है। ये लोग सब बातों को तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसी पर श्रद्धा नहीं रखते, किसी से फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे रूढ़ि पर चलने वाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौत का इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरे की भी और अपनी भी मौत

का। मौत की व्याख्या तटस्थ भाव से ये करते हैं; पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धा के कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भय के आधार पर खड़ी होती है। भय में से नियम, कानून, पुलिस-फौज, अदालत-जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते हैं। भय अद्भुत-रूप में सृजनशील है। वह ज़बर्दस्त शक्ति को उत्पन्न करता है। भय-जात साहस और भय-जात बल में आसुरी प्रबलता है। भय एक दृष्टि से उपकार भी करता है। उससे निर्भीकता की अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होतीहै। भय निस्सन्देह उन्नति के मार्ग में बहुत जरूरी है। पर भय भय है। उससे मौत पास खिचती है। वह मौत को न्यौता है।

श्रद्धा में से शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते हैं। श्रद्धा मौत को प्रेम भी कर सकती है। इसलिए नहीं कि वह मौत है; बल्कि इसलिए कि श्रद्धा जानती है कि वह (मृत्यु) जीवन की दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्ण की मौत है तो इसी निमित्त कि नूतन की सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मीचती। वह आँख खोले रखकर मौत में जीवन के संदेश को और शत्रु में बंधु को पहचानती है।

हम कह सकते हैं कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुतुरमुर्ग नहीं है; पर हम उस मतवादी से कैसे पार पायें जो मनुष्य को इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उसके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादी को शुतुरमुर्ग का वकील कहते हैं।

मुझे इसमें संदेह है कि आँख एक ही क्षण में चारों ओर देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पल में एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धि में दृश्य को Perspective देने की शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। Perspective की शक्ति, अर्थात् दृश्य की विभिन्नता में एकता देखने की शक्ति। इसी प्रकार व्यक्तित्व को चहुँमुखी होने के लिए एक निष्ठा की आवश्यकता है। शंका की सामर्थ्य के लिए निश्शंकित-चित्त चाहिए और अन्वय की शक्ति के लिए समन्वय की साधना चाहिए। मुझे इसमें बहुत संदेह है कि वह बुद्धि जो चारों ओर जाती है, किसी भी ओर दूर तक जा सकती है। मुझे इसमें भी बहुत सन्देह है कि जिसको श्रद्धा का संयोग प्राप्त नहीं है वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है। बुद्धि अपने आपमें बन्ध्या है। वह भय में से उपजी है और भयाश्रित बुद्धि लगभग शुतुरमुर्ग-जैसी बुद्धि है। उससे निस्सन्देह बहुत मदद भी मिलती है। उसकी मदद से व्यक्ति थोड़ी बहुत निर्भयता भी सम्पादन करता है; पर वह अंततः मन को उठाती नहीं है और स्वयं भी विकारहीन नहीं है।

किसी बड़े वृहत्तर अज्ञेय में अपने को गाड़ देने से हम अपने को संकुचित नहीं बनाते। अपनी बुद्धि के भीतर रत रहने से जैसे हम ह्रस्व होते हैं उसी भाँति श्रद्धा

पूर्वक विराट् सत्ता के प्रति समर्पित हो रहने से हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदि की भावनाएँ मनुष्य की इसी प्रकार अभ्युदय स्फूर्ति का फल हैं और वह इन भावनाओं द्वारा अपने ही घेरे से ऊँचा उठता है।

शुतुरमुर्ग की कथा मनुष्य पर ज्यों-की-त्यों लागू है, अगर वह भय को जीतने के लिए भयाक्रान्त अपनी धारणाओं में ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथा के उदाहरण के प्रयोग से बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत कुछ बाहर हो जाते हैं जब कि अपने बचाव की हम चिन्ता नहीं करते प्रत्युत् (मालूम होनेवाले) शत्रु के सम्मुख हम बढ़ चलते हैं। शत्रु को जब हम अपने से भिन्न देखते ही नहीं और उससे भागने की जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न प्रेम भाव से उसे अपनाते हैं; फिर इसमें चाहे हमें उसके हाथों मौत ही मिले। पर मौत में हार नहीं है, हार तो भय में है। मौत तो जीवन-तत्व की प्रतिष्ठा में नियुक्त एक सेविका मात्र ही है।

हमारे घर की जो मुन्नी अपनी आँखें मूद कर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असल में हम में से अधिकांश की बुद्धि की प्रतिनिधि है। न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्कर में पड़े हैं। बुद्धि पग-पग पर हमें बहकाती और फुसलाती है। वह प्रवंचना है, वह भय की प्रतिक्रिया है। भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थना की ओर ले जाय। श्रद्धा भय का काट है। भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभाव की ओर ले जाता है। हम जान रखें कि एक साहस है जो भय में से उपजता है। वह आवेश-युक्त और ज्वराक्रान्त और पर्याप्त से अधिक तीखा होता है। वह दूसरे को डराकर अपने को साहस सिद्ध करता है। वह चमत्कृत भय का प्रतिरूप है। हमारी बुद्धि भी अहंजन्य भीरु साहसिकता को अपनाती और पोसती है; पर वह साहस सस्ती चीज़ है और नकली है। वैसी साहसिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है। शराब पीकर जो दुर्बल बड़ी डींगें हाँकता है, वह डींगें उसकी उस दुर्बलता को ही व्यक्त करती हैं। कृपया कोई उन्हें बल न समझे। हमारी बुद्धि बड़ी ठगिनी है। क्षीण-शक्ति पुरुष क्यों शराब की ओर जाता है? इसी से कि वह अपने को ठगना चाहता है। नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है। कुछ देर तक के ही लिए क्यों न हो, वह अपने को अपने से बचाने के लिए नशे का सहारा पकड़ता है। बुद्धि हमें बताती है कि हम हम हैं और वह अमुक हमारा शत्रु है, और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमें भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर बाहर के द्विभेद पर हमारी बुद्धि अपना क़िला बाँधे बैठी है। वह हमें परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमें भय के मार्ग से नाना उपाय अपने उन इस-या-उस शत्रु से बचने या बदला लेने के निरंतर सुझाती रहती है। पर वे सब शुतुरमुर्ग के या शिकारी के उपाय हैं। वे सब

मौत के निमंत्रण के उपाय हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेद की झाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत् के प्रति दृढ़ और परमात्मा के प्रति व्यक्ति को कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट और अजेय और अमर बनता है। वह मरता है, पर अमर होने के लिए; क्योंकि मृत्यु में उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अज्ञेय में से रस लेती है और उसी में अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त और मुक्त होती जाती है।

अनुरोध

श्री राजेन्द्र

निज कर से निर्मित जगती के इस गत वैभव-मधुबन को—
नष्ट न हो जाने दोगे क्यों सुख श्री-हत शारद-घन को।
तुहिन किरीट उठा लूँ पहनूँ यह कैसा अनुरोध भला
बैठूँ, मेरे ही दृग-जल से और मुझे तुम दो नहला।
फिर भी इन भींगी पलकों के नीरव दोनों कूल रहें
उधर तुम्हारे अंचल में छिप हँसते नभ के फूल कहें—
'रहने दो अभिनय करुणा का है यह कलरव सुना हुआ
चलो भटकने का कैसा भय, छाया पथ है बना हुआ।
इस मानस के निचले स्तर में जीवन-स्वामी! झाँको तो
मोल विश्व के अन्धकार का किरणों से कुछ आँको तो।
साहस है असीम, उतरोगे? यह लो द्रव हो तिमिर चला
पर दुर्लंघ्य जलधि-संसृति की बुझ न जाय वह ज्योति-कला।
विश्व-तेज की घन समाधि पर ले कर में ज्योत्स्ना बिखरी
क्षितिज निरखता रह जाये मुख, चल दे संध्या रंग भरी।
यह आलोक-निर्झरी चितवन! अरे सँभालो तनिक इसे
कभी न इतनी मादकता थी, थे तुम कितनी बार हँसे।
मचल रहा क्यों भृकुटि-निलय में व्यर्थ तुमुल संकेत नया
इच्छा है क्या? इन प्राणों की, भीख न माँगूँ करो दया।
उस अनिंद्य छलना का कौतुक था मुझको देखना यही
छिपा सकूँगा यह विराट-छवि इतने नयन विशाल नहीं॥

रस

श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'

जब काव्यमय श्रुतियों का काल समाप्त हो गया और धर्म ने अपना स्वरूप अर्थात् शास्त्र और स्मृति बनाने का उपक्रम किया—जो केवल तर्क पर प्रतिष्ठित था—तब मनु को भी कहना पड़ा।

'यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेदनेतरः।'

परन्तु आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति, जो मानव-ज्ञान की अकृत्रिम धारा थी, प्रवाहित रही। काव्य की धारा लोकपक्ष से मिल कर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही। यद्यपि शास्त्रों की परम्परा ने आध्यात्मिक विचार का महत्त्व उससे छीन लेने का प्रयत्न किया, फिर भी अपने निषेधों की भयानकता के कारण, हृदय के समीप न होकर वह अपने शासन का रूप ही प्रकट कर सका। अनुभूतियाँ, काव्य-परम्परा में अभिव्यक्त होती रहीं। 'जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात्' (भरत) से यह स्पष्ट होता है कि सर्व-साधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ। भारतीय वाङ्मय में नाटकों को ही सब से पहले काव्य कहा गया।

'काव्यंतावन्मुख्यतो दशरूपात्मकमेव' (अभिनव गुप्त)

शैवागमों के 'क्रीड़ात्वेनाखिलम् जगत्' वाले सिद्धान्त का नाट्य-शास्त्र में व्यावहारिक प्रयोग है।

इन्हीं नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अभिनव गुप्त ने कहा है 'आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते।' नाटकों में भरत के मत से चार ही मूल रस हैं। शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। इनसे अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी गयी। शृंगार से हास्य; वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक। इन चित्त वृत्तियों में आत्मानुभूति का विलास आरम्भिक विवेचकों को रमणीय और उत्कर्षमय मालूम हुआ। नाट्यों में, वाणी के छन्द, गद्य और संगीत, इन तीनों प्रकारों का समावेश था। इस तरह आभ्यन्तर और बाह्य दोनों में नाट्य संघटना पूर्ण हुई। रसात्मक अनुभूति आनन्द मात्रा से सम्पन्न थी और तब नाटकों में रस का आवश्यक प्रयोग माना गया। किन्तु रस-सम्बन्धी भरतमुनि के सूत्र ने भावी आलोचकों के लिए अद्भुत सामग्री उप-

स्थित की, 'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की विभिन्न व्याख्याएँ होने लगीं। स्वयं भरत ने लिखा है 'तथा विभावानुभाव व्यभिचारि परिवृतः स्थायी भावो रस नाम लभते' (नाट्यशास्त्र अ० ७) अर्थात् प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के संयोग से रसत्व को प्राप्त होती हैं। आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्वसाधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्य-रसों की उद्भावना की थी। हाँ, भारत में नाट्य प्रयोग केवल कुतूहल शान्ति के लिए ही नहीं था। अभिनव भारती में कहा है 'तदनेन परिमार्थिकम् प्रयोजनम् मुक्तमिति व्याख्यानम् सहृदय दर्पणे प्रत्यग्रहीत् यदाह—नमस्त्रैलोक्य निर्माण कवये शंभवे यतः। प्रतिक्षणम् जगन्नाट्य प्रयोग रसिको जनः। इति एवं नाट्यशास्त्र प्रवचन प्रयोजनम्'। नाट्य शास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयम् भरत मुनि ने भी नाट्य प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में ही माना था।

'इज्यया चानया नित्यम् प्रीयन्तांदेवता इति।' (४ अध्याय)

इधर विवेक या बुद्धिवादियों की वाङ्मयी धारा, दर्शनों और कर्म पद्धतियों तथा धर्म शास्त्रों का प्रचार करके भी जनता के समीप न हो रही थी। उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा वर्णनात्मक उपदेश करना आरम्भ किया। उनके लिए भी साहित्यिक व्याख्या की आवश्यकता हुई। उन्हें केवल अपनी अलंकारमयी सूक्तियों पर ही गर्व था; इसलिए प्राचीन रसवाद के विरोध में उन्होंने अलंकार मत खड़ा किया, जिसमें रीति और वक्रोक्ति इत्यादि का भी समावेश था।

इन लोगों के पास रस जैसी कोई आभ्यन्तरिक वस्तु न थी। अपनी साधारण धार्मिक कथाओं में वे काव्य का रंग चढ़ाकर सूक्ति, वाग्विकल्प और वक्रोक्ति के द्वारा जनता को आकृष्ट करने में लगे रहे। शिलालिन्, कृशाश्व और भरत आदि के ग्रंथ अपनी आलोचना और निर्माण शैली की व्याख्या के द्वारा रस के आधार थे। अलंकार की आलोचना और विवेचना के लिए भी उसी तरह के प्रयत्न हुए। भामह ने पहले काव्य शरीर का निर्देश किया और अर्थालंकार तथा शब्दालंकार का विवेचन किया। इनके अनुयायी दण्डि ने रीति को प्रधानता दी। सौंदर्य ग्रहण की पद्धति समझने के लिए वाग्विकल्पों के चारुत्व का अनुशीलन होने लगा। अलंकार का महत्व बढ़ा; क्योंकि वे काव्य की शोभा मान लिये गये थे। पिछले काल में तो वे कटक कुण्डल की तरह आभूषण ही समझ लिये गये। काव्यालंकार सूत्रों में ये

आलोचक कुछ और गहरे उतरे और उन्होंने अलंकारों की व्याख्या सौंदर्य-बोध के आधार पर करने का प्रयत्न किया।

'काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्', 'सौन्दर्यमलंकार':—इत्यादि से सौन्दर्य की प्रतिष्ठा अलंकार में हुई। काव्य के सौन्दर्य-बोध का आधार शब्द-विन्यास-कौशल ही रहा। इसी को वे रीति कहते थे। 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' से यह स्पष्ट है। रीति अलंकार तथा वक्रोक्ति श्रव्य काव्यों के सम्बन्ध में विचार करने वालों के निर्माण थे; इसलिए आरम्भ में इन लोगों ने रस को भी एक तरह का अलंकार ही माना और उसे रसवद् अलंकार कहते थे। अलंकार मत के रीति ग्रन्थों के जितने लेखक हुए उन्होंने शब्दों को ही प्रधान मानकर अपने काव्य लक्षण बनाये 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', 'रमणीयार्थ प्रतिपादकं शब्दः काव्यम्' इत्यादि।

इन परिभाषाओं में शब्द और वाक्य ही काव्यरूप माने गये हैं। पंडितराज ने तो 'तददोषौ शब्दार्थौ' में से अर्थ के बहिष्कार करने का भी आग्रह किया है। शब्दमात्र ही काव्य है। शब्द और अर्थ दोनों नहीं। भले ही उसमें से रमणीयार्थ निकलना आवश्यक हो; पर काव्य है शब्द ही। इन शब्द-विन्यास-कौशल के समर्थन करने वालों को भी रस की आवश्यकता प्रतीत हुई; क्योंकि रस-जैसी वस्तु इनके काव्य-शरीर की आत्मा बन सकती थी। 'शृङ्गार तिलक' में स्वीकार किया गया है कि—

'प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रस स्थितिः
यथा मति मयाप्येषा काव्ये प्रति निगद्यते।'

आलंकारिकों के काव्य-शरीर या वाह्य वस्तु से साहित्यिक आलोचना पूर्ण नहीं हो सकती थी। कहा जाता है कि 'अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़कर वाक् वैचित्र्य को पकड़कर चला; पर वाक्वैचित्र्य का हृदय गंभीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है।' तब तो यह मानना पड़ेगा कि विशिष्ट पद रचना, रीति और वक्रोक्ति को प्रधानता देने वाले अलंकारवादी भामह, दंडी, वामन और उद्भट आदि अभिव्यंजना वादी ही थे।

साहित्य में विकल्पात्मक मनन-धारा का प्रभाव इन्हीं अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया तथा अपनी तर्क प्रणाली से आलोचना शास्त्र की स्थापना की। किन्तु संकल्पात्मक अनुभूति की वस्तु रस का प्रलोभन, कदाचित् उन्हें अभिनव गुप्त की ओर से ही मिला। उन्होंने रस के सम्बन्ध में ध्वन्यालोक की टीका में लिखा है 'काव्येऽपि लोकनाट्य धर्मिस्थानीये स्वभावोक्ति वक्रोक्ति प्रकारद्वयेनालौकिक प्रसन्न मधुरौजस्वि शब्द समर्प्यमाण विभा-

वादि योगादियमेवरस वार्त्ता । अस्तुवानाट्याद्विचित्ररूपारसप्रतीतिः ।' रस को अपनाकर भी इन बुद्धिवादी तार्किकों ने अपने पाण्डित्य के बल पर उसके सम्बन्ध में नये-नये वाद खड़े किये। रस किसे कहते हैं, उसकी व्यापार सीमा कहाँ तक है, वह व्यंग्य है कि वाच्य, इस तरह के बहुत से मतभेद उपस्थित हुए। दार्शनिक युक्तियाँ लगायी गयीं। रस कार्य है कि अनु-मेय, भोज्य है कि ज्ञाप्य—इन प्रश्नों पर रस का, काव्य और नाटक दोनों में समन्वय करने की दृष्टि से विचार होने लगा। क्योंकि इस काल में काव्य से स्पष्टतः श्रव्य काव्य का और नाटक से दृश्य का अर्थ किया जाने लगा था। किन्तु सामाजिकों या अभिनेताओं में आस्वाद्य वस्तु रस के लिए भरत की व्यवस्था के अनुसार सात्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य्य इन चारों क्रियाओं की आवश्यकता थी। अलंकारवादियों के पास केवल वाचिक का ही बल था। फिर तो रस को श्रव्य काव्योपयोगी बनाने के लिए कई उपाय किये गये। उन्ही में से एक उपाय आक्षेप भी है। आक्षेप के द्वारा विभाव अनुभाव या संचारी में से एक भी अन्य दोनों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। रस के सम्बन्ध में विकल्पवादियों के ये आरोपित तर्क थे। आनन्द परम्परावाले शैवागमों की भावना में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी। रस की अभेद और आनन्दवाली व्याख्या हुई। भट्ट नायक ने साधा-रणी-करण का सिद्धान्त प्रचारित किया, जिसके द्वारा नट सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर, लोक सामान्य-प्रकाश-आनन्दमय, आत्म-चैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।

रस और अलंकार दोनों सिद्धान्तों में समझौता कराने के लिए ध्वनि की व्याख्या अलंकार सरणि व्यवस्थापक आनन्दवर्द्धन ने इस तरह से की कि ध्वनि के भीतर ही रस और अलंकार दोनों आ गये। इन दोनों से भी जो साहित्यिक अभिव्यक्ति बची उसे वस्तु कहकर ध्वनि के अन्तर्गत माना गया। काव्य की आत्मा ध्वनि को मानकर रस, अलंकार और वस्तु इन तीनों को ध्वनि का ही भेद समझने का उपक्रम हुआ। फिर भी आनन्द-वर्द्धन ने यह स्वीकार किया कि वस्तु और अलंकार से प्रधान रस ध्वनि ही है 'प्रतीयमानस्य चान्य प्रभेद दर्शनेपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणम्, प्राधा-न्यात्, (आनन्दवर्द्धन) आनन्दवर्द्धन ने रस ध्वनि को प्रधान माना ; परन्तु अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक' की ही टीका में अपनी पाण्डित्यपूर्ण विवेचन शैली से यह सिद्ध किया कि काव्य की आत्मा रस ही है। 'तेन रसमेव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रति पर्य्यवस्यते' (लोचन)

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि अलंकार व्यवस्थापक आनन्द-वर्द्धन ने श्राव्य काव्यों में भी रसों का उपयोग मान लिया था ; परन्तु आत्मा

के रूप में ध्वनि की ही प्रधानता इस विचार से रक्खी कि अलंकार मत में रस जैसी नाट्य वस्तु सबसे अधिक प्रमुख न हो जाय। यह सिद्धान्तों की लड़ाई थी। आनन्दवर्द्धन ने रस की दृष्टि से विवेचना करते हुए महाभारत को शान्त-रस प्रधान और रामायण को करुण-रस का प्रबन्ध माना। किन्तु मुक्तकों में रस की निष्पत्ति कठिन देखकर उन्होंने यह भी कहा कि श्रव्य काव्य के अन्तर्गत मुक्तक काव्यों में रस की निबन्धना अधिक प्रयत्न करने पर ही कदाचित् सम्भव हो सकेगी।

'प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्द्धुमिच्छता। यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनां। अन्यथा त्वस्य रसमयश्लोक एकोपि सम्यङ्‌ न सम्पद्यते'

अनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और वे वहाँ के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु माहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने इन्हीं की व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पथवाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। नाटकों के स्वरूप तो उनके सिद्धान्त और दार्शनिक पक्ष के अनुकूल ही थे। अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन नाम की टीका में स्पष्ट ही लिखा है, 'तदुत्तीर्णत्त्वेतु सर्वम् परमेश्वराद्वयम् ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रानुसरणेन विदितम् तन्त्रालोक ग्रन्थे विचारयेत्यास्ताम्।'

अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द-सिद्धान्त की अभिनेय काव्यवाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिवसूत्रों में लिखा है—'नर्त्तक आत्मा' 'प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि।' इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैत वादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य गोष्ठियों में प्रचलित रक्खा था; इसलिए उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था। 'विगलित भेद संस्कारमानन्द रस प्रवाह मयमेव पश्यति' (क्षेमराज) इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनव गुप्त ने नाट्य रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द रस को पल्लवित किया। भट्ट नायक ने साधारणीकरण से जिस सिद्धान्त की पुष्टि की थी अभिनव गुप्त ने उसे अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ ही साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्द स्वरूप हो जाती है। उनका आस्वाद ब्रह्मास्वाद के तुल्य होता है। 'परब्रह्मास्वाद सब्रह्मचारित्वम् वास्तवस्यरसस्य' (लोचन) वासनात्मक रूप से स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान परिवर्त्तन लेकर उपस्थित हुई। रति आदि कई वृत्तियाँ स्थायी मानी जा चुकी थीं; किन्तु आलोचक एक आत्मा की खोज में थे। रस को अपनाकर वे कुछ द्विविधा में पड़ गये थे। आनन्दवादियों की यह

व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती थी। उनके यहाँ कहा गया है 'लोकानन्दः समाधि सुखं (शिवसूत्र १८) क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं 'प्रमातृ पद विश्रान्ति अवधानान्तश्चमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधि सुखम्' इस प्रमातृ पद विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोक-संस्थ आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधि सुख ही है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृ पद—अहम् में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरू उत्पल ने कहा है कि—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्ति रहं भावो हि कीर्तितः।'

प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है चैतन्य। यह चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय वही पूर्ण अहंभाव है। साधारणीकरण द्वारा आत्म चैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में विश्रान्ति हो जाना आगमों की ही दार्शनिक सीमा है। साहित्य दर्पणकार की रस व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है।

स्वत्वोद्रेकादखण्डस्व प्रकाशानन्द चिन्मयः।' इत्यादि। यह रस बुद्धिवादियों के पास गया तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है। फिर तो 'चमत्कारा पर पर्य्याय अनुभव सात्विक' रस को पण्डितराज जगन्नाथ ने आगम-वादियों की ही तरह 'रसोवैसः' 'रसंह्येव लब्ध्वाऽनन्दीभवति' के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।

सम्भवतः इसीलिए दुःखान्त प्रबन्धों का निषेध भी किया गया। क्योंकि विरह तो उनके लिए प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती? शैवागमों के अनु-यायी नाट्यों में इसी कल्पित-विरह या आवरण का हटना ही प्रायः दिख-लाया जाता रहा। अभिज्ञान शाकुन्तल इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। बुद्धिवाद के अनन्य समर्थक व्यास की कृति महाभारत शान्तरस के अनुकूल होने पर भी दुःखान्त है। रामायण भी दुःखान्त ही है।

शैवागम के आनन्द सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी, रस की दोनों सीमा शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। भरत ने कहा है—

'भावाविकारा रत्याद्याः शान्तस्तुप्रकृतिर्मतः
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैवलीयते।'

यह शान्तरस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है। किन्तु बुद्धि द्वारा सुख की खोज करनेवाले सम्प्रदाय ने रसों में श्रृंगार को ही महत्व दिया और आगे चलकर शैवागमों के प्रकाश में साहित्यरस की व्याख्या से संतुष्ट न होकर, उन्होंने श्रृंगार का नाम मधुर रख लिया। कहना न होगा कि उज्ज्वल नीलमणि का सम्प्रदाय बहुत कुछ विरहोन्मुख ही रहा, और भक्ति प्रधान भी। उन्होंने कहा है—

'मुख्यारसेषु पुरायः संक्षेपेनोदितो रहस्यत्वात्,
पृथगेव भक्ति रसराट् सविस्तरेणोच्यते मधुरः।'

कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसीलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रसाभास की ही कल्पना होती थी। आगमों में तो भक्ति भी अद्वैत मूला थी उनके यहाँ—'द्वैत प्रथा तद्ज्ञान तुच्छत्वान् बंध मुच्यते' के अनुसार द्वैत बन्धन था। इस मधुर सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ उसमें परकीया प्रेम का महत्व इसीलिए बढ़ा कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्व को स्व से पर मानते थे। उज्ज्वल नील मणिकार का कहना है—

रागेणोल्लंघ्यन् धर्मम् परकीया बलार्थिना
तदीय प्रेम वसति बुधै रुपपतिस्मृतः
अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।

श्रृङ्गार का परम उत्कर्ष परकीया में मानने का यही दार्शनिक कारण है जीव और ईश की भिन्नता। हाँ, इस लक्षण में धर्म के उल्लंघन करने का भी संकेत है। विवेकवादी भागवत धर्म ने जब आगमों के अनुकरण में आनन्द की योजना अपने सम्प्रदाय में की तो उसमें इस प्रेमा भक्ति के कारण श्रुति परम्परा के धार्मिक बन्धनों को तोड़ने का भी प्रयोग आरम्भ हुआ। उनके लिए परमतत्व की प्राप्ति सांसारिक परम्परा को छोड़ने से ही हो सकती थी। भागवत का वह प्रसिद्ध श्लोक इसके लिए प्रकाश स्तम्भ बना—

'आसामहो चरणरेणु जुषा महं स्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्
या दुस्त्यजं स्वजन मार्य्यपथं च हित्वा
भेजुमु कुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्'

यह आर्यपथ छोड़ने की भावना स्पष्ट ही श्रुति विरोध में थी। आनन्द की योजना करने जाकर विवेकवाद के लिए दूसरा न तो उपाय था और न दार्शनिक समर्थन ही था। उन्होंने स्वीकार किया कि संसार में प्रचलित आर्य

सिद्धान्त सामान्य लोक आनन्द तत्व से परे वह परम वस्तु है, जिसके लिए गोलोक में लास्य लीला की योजना की गयी। किन्तु समग्र विश्व के साथ तादात्म्य वाली समरसता और आगमों के स्पंद शास्त्र का ताण्डवपूर्ण विश्व-नृत्य का पूर्ण भाव उसमें न था। इन लोगों के द्वारा जब रसों की दार्शनिक व्याख्या हुई, तो उसे प्रेम मूलक रहस्य में ही परिणत किया गया और यह रहस्य गोप्य भी माना गया। 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में एक जगह स्पष्ट कहा गया है—

'अयमुज्ज्वल नीलमणिरेतन्मूल्यमजानद्भ्योऽनादर शंकया गोप्य एवेति'

भारतेन्दुजी ने अपनी चन्द्रावली नाटिका में इसका संकेत किया है। इस रागात्मिका भक्ति के विकास में हास्य करुण, वीभत्स इत्यादि प्राचीन रस गौण हो गये और दास्य, सख्य और वात्सल्य आदि नये रसों की सृष्टि हुई। माधुर्य के नेतृत्व में द्वैत भावना से परिपुष्ट दास्य आदि रस प्रमुख बने। आनन्द की भावना इन आधुनिक रसों में विशृंखल ही रही। हिन्दी के आरम्भ में श्रव्य काव्यों की प्रचुरता थी। उनमें भी रस की धारा अपने मूल उद्गम आनन्द से अलग होकर केवल चिर विरहोन्मुख प्रेम के स्रोत में बही, यह बाढ़ वेगवती रही; किन्तु उसमें रस की पूर्णता नहीं। तात्त्विक और व्याहारिक दोनों दृष्टि से आत्मा की, रस अनुभूति एकाङ्गी-सी बन गयी।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का और उनके सब स्वरूपों का नाट्य रसों में आगमानुकूल व्याख्या से समन्वय हो गया था। अहम् की सब भावों में, सब अनुभूतियों में पूर्णता मान ली गयी थी। वह बात पिछले काल के रस विवेचकों के द्वारा विशृंखल हो गयी। हाँ, इतना हुआ कि सिद्धान्त रूप से ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गयी। वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।

फिर भी रस अपने स्वरूप में नाट्यों की अपनी वस्तु थी। और उसी में आत्मा की मूल अनुभूति पूर्णता को प्राप्त हुई थी। इसीलिए स्वीकार किया गया। 'काव्येषु नाटकं रम्यं।'

राम-कथा

श्री जैनेन्द्रकुमार

एक बार एक पड़ोसी सज्जन के यहाँ से निमन्त्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूर से एक विद्वान् पण्डित पधारे हैं, रामायण की कथा होगी,—मैं कृपा कर कथा में सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढ़ाऊँ।

उत्सव की तो शोभा मुझसे क्या बढ़ सकती है; लेकिन रामायण कोटि-कोटि भारतीयों को प्यारी है। मैं भी उस प्यार को चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढ़ी है, अंग्रेज़ी पढ़ी है; पर मुझे इस अंग्रेज़ी की जगह रामायण न पढ़ने पर गर्व नहीं है। कई मौक़ों पर जब सहस्रों नर-नारियों के समुदाय को राम-सीता के स्तुति-गान पर गद्गद् हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगों को मूढ़-मति कहकर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ। राम के प्रति, और सीता के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उठती है। मैं अंग्रेज़ी पढ़ा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमान् के लिए श्रद्धा की अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि-संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायास भाव से मेरी तर्क-बुद्धि को लाँघ जाती है। नहीं मानूँगा, कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर सच कहूँ तो श्रद्धा में मुझे अपनी बुद्धि की विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

रामायण मैंने पढ़ी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत भाव से उन कोटि-कोटि भारतीयों के समकक्ष बन जाना चाहता हूँ, जो राम में परमात्मा देखते हैं और राम-नाम के स्मरण से जिनको चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है।

भारत दीन है, वह परतन्त्र है। पश्चिम बढ़ रहा है और भारत मूढ़ता में पड़ा है। विज्ञान आविष्कार कर रहा है, भारत धर्म पर माथा टेके वहीं ऊँघ रहा है। धर्म भारत का नशा है, वह क्लैव्य है, वह बुद्धि-हीनता है। भारत ऐसे ही तो परतन्त्र बना। पश्चिम ने उस पर प्रभुता स्थापित की और भारत पद-दलित बना हुआ अब भी अपने धर्म के गीत गाता और अतीत के सपने लेता है। उसे शक्ति चाहिए, शक्ति! उसे क्षमता चाहिए, बुद्धि चाहिए, विज्ञान चाहिए। उसे धर्म से छुट्टी चाहिए। यह धर्म ही तो उसका रोग है जिसने उसे निष्प्राण बना डाला है।

ऐसा कहा जाता है। ठीक ही कहा जाता होगा। कहनेवाले वाग्मी विद्वान् हैं। वे विचक्षण हैं। वे ग़लत क्यों कहेंगे? वे अध्ययन तुलनात्मक करते हैं। वे पक्षहीन बात करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान देखा, तब विलायतें भी

देखी हैं। उनकी बात क्यों पुख्ता नहीं होंगी। यह किसकी स्पर्द्धा कि कहे कि वह बात ग़लत भी हो सकेगी। बात उनकी है, तब क्यों ठीक ही नहीं होगी ?

लेकिन मैं जानता नहीं। पढ़कर भी कुछ अधिक नहीं जाना हूँ। तभी तो जन-सामान्य से मैं प्रभावित होता हूँ। सचमुच प्रभावित होता हूँ। उस प्रभाव से इनकार कैसा ? कोटि-कोटि ग्रामीणों के प्रणम्य उन सीता, राम, लक्ष्मण को तर्क से छिन्न-भिन्न करके अपने से दूर मुझसे नहीं किया जाता। मैं तो स्वयं उस उनके उत्साह में भाग लेने लगता हूँ। मुझे यह सब पसन्द भी आता है। तर्कवादी के सम्मुख मैं अपनी इस भावना को लेकर नहीं पड़ सकता। मैं जानता हूँ, वह अतर्क्य है। तर्क के सामने वह चुप हो रहेगी और मैं निरुत्तर दीखूँगा। मैं उन तर्कवादी से यही निवेदन कर सकूँगा कि वह मुझे क्षम्य स्वीकार करें और मुझे इजाज़त दें कि मैं पड़ोसी मित्र की रामायण की कथा में चला जा सकूँ।

मैं कथा में गया। पंडितजी बहुत अच्छी कथा बाँचते थे। सुन्दर गाते थे और तुलसीदासजी की रामायण उन्हें कण्ठस्थ थी। वह गौर-वर्ण सुडौल आकृति के पुरुष थे। कण्ठ सुरीला था, मुख आत्म-विश्वास में प्रसन्न। स्मश्रु-हीन चेहरे पर कुछ स्निग्ध आभा थी। अत्यन्त अनुकूल भाव-भंगिमा के साथ वह कथा बाँचते थे।

सुन्दरता सब जगह काम आनेवाली चीज़ है। तपस्वी सुन्दर क्यों न हो ? पंडित अपने को सुन्दर क्यों न रक्खे ? कुछ और गुण पीछे भी दीखें, सुन्दरता तो सामने से ही दीखती है। उससे काम आसान होता है। सुन्दरता गुण है, चाहो तो वह आयुध भी है। मुझको ऐसा मालूम हुआ कि पंडितजी इस तत्व के तत्वज्ञ भी हैं। वह अज्ञान में नहीं हैं कि वह सुन्दर हैं और वह अपने को सुयत्न पूर्वक वैसा रखते भी हैं। उन्हें अभी युवा ही कहिए, यौवन की दीप्ति उनके आसपास है।

शताधिक नर-नारी वहाँ उपस्थित हैं और पंडितजी का गला स्वच्छ है...। अब मेरे साथ एक त्रुटि है कि श्रीरामचन्द्र की महिमा मुझे इस प्रकार के आयोजन की सहायता पाकर कुछ विशेष उन्नत हो गई हुई नहीं जान पड़ती है। मैं अपने और राम के बीच में माध्यम अपनी श्रद्धा का ही पाऊँ, यह मुझे रुचिकर होता है। जब मध्य में कोई व्याख्या अथवा व्याख्याता उपस्थित हो, तब मेरी श्रद्धा मेरे ही भीतर सिमट रहती है और तब वहाँ आलोचना जागती है। यह मेरे स्वभाव की प्रकृति मुझे बहुत खलती है। आलोचना मनुष्य पर क्यों छाये ? आलोचना सदा बन्ध्या है, वह उपलब्धि में बाधा है ; पर (सोच लिया करता हूँ कि) एक बात है। व्यक्ति को विवेक तो चाहिए ही। विवेक में अस्वीकृति अनिवार्य है। अस्वीकृति की शक्ति न

हो तो जीवन क्या रह जाय—निश्शक्त गीले मोम की भाँति कुछ आकार धारण करने के लिए बस वह निरा परापेक्षी ही न हो जाय! पर जीवन को तो कहीं हीरे की भाँति दृढ़ भी होना पड़ता है और कहीं वायु की भाँति अवकाशसारी उसे होना पड़ता है। इसलिए मैं किंचित् आलोचना को कदाचित् अपने साथ चलने भी देता हूँ।

पण्डितजी ने गले में कुछ मालाएँ स्वीकार कीं, फिर कुछ पूजन आदि किया, मंगलाचरण किया, और रामचन्द्र के जीवन के इतिवृत्त का संक्षिप्त बखान आरम्भ किया। बताया कि अमुक तिथि, अमुक घड़ी, अमुक लग्न में अपने पिता राजा दशरथ के अयोध्या के महलों में माता महारानी कौशल्या की कुक्षि से भगवान् ने अवतार धारण किया। इससे आगे वह कुछ और कह रहे थे, तभी मेरा ध्यान अन्यत्र चला गया।

मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है, असल में जो उसके भीतर छोटा-सा मन दबककर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मन की है। वह मन न देश की बाधा मानता है, न काल की। इस घड़ी यहाँ बैठे हो, तो यह मन उड़कर कहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस, बीस बरस, पचास, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं वह मन चला गया है, या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है—कुछ भी हिसाब नहीं। यह सारा सफ़र वह मन छन में कर लेता है। इसी मन के बूते पर तो कवि लोग कह देते हैं, व्यक्ति असीम है। साढ़े तीन हाथ का मानव व्यक्ति असीम भला क्या, इस अनन्त योजनों के विस्तारवाले विश्व में नन्ही बूँद-सा भी तो नहीं है! पर उस नन्ही बूद के भीतर नन्ही से भी जो कुछ नन्ही चीज है, वही कम्बख़्त तो समीपता में बँधकर पलभर के लिए भी चैन से बैठती नहीं है।

और न उस मन के लिए देश की बाधा है। यहाँ धरती पर रक्खी कुर्सी पर बैठे हो, पर मन आसमान में उड़ रहा है। आसमान क्यों, वह सूरज में चला गया है। सूरज को पारकर वह जाने फिर कहाँ-कहाँ भागा फिर रहा है। उस पर रोक-थाम ही नहीं चलती। मन तो मन है, उसके लिए कब यह नियम बन सका है कि वह किन्हीं पंडित की सुस्वर-कंठ-लहरी में गाई जाती हुई राम-कथा में से उठकर कहीं और वह न जा सकेगा।

सो मेरा मन और ही तमाशे की ओर चला गया। कुछ रोज़ पहले की बात है। सप्ताह-भर हुआ होगा। ऊपर बादल हो रहे थे। वर्षा होनेवाली थी। मौसम अनुकूल था। उस समय कमरा मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ, जहाँ ऊपर साँवला आसमान तो है नहीं, कोरी छत है। और जहाँ चारों दिशाएँ भी खुली नहीं हैं, बस चारों ओर से पक्की दीवारें घिरी हैं। सो मैं

कमरे में से निकलकर बाहर आया। बाहर आकर देखता हूँ कि हरीश और विमला में कुछ चर्चा छिड़ी है। वह किसी तत्व पर उलझे हैं और मेरा बाहर आना उन्हें पता ही नहीं लगा है।

हरीश ने कहा—मैं बड़ा हूँ। मैंने ज्यादा आम खाये।

विमला बड़ी न हो; पर लड़की है। उसने जोर से कहा—मैंने खाये!

हरी०—मैंने पाँच खाये।

वि०—मैंने खाये!

हरी०—मैंने दस खाये।

वि०—मैंने दस खाये!

हरी०—मेरी बात तू क्यों कहती है। मैंने बीस खाये!

वि०—मैंने बीस खाये।

हरी०—तू झूठ बोलती है। मैंने चालीस खाये। मैंने पचास खाये।

विमला को सहसा याद आया, कि एक बड़ी चीज होती है, जिसका नाम है, 'सौ'। उसने कहा—मैंने सौ खाये!

हरी०—सौ! मैंने पचास सौ हज़ार खाये।

विमला ने बड़े गर्व से कहा—मैंने सत्रह खाये।

हरीश ने ताली बजाकर कहा—ओहो जी, सत्रह ज्यादा होते ही नहीं!

तब विमला ने तल्लीनता के साथ दोनों हाथ फैलाकर कहा—मैंने इत्ते खाये।

हरीश एकदम खड़ा हो गया। पंजों के बल तनकर और अपनी दोनों बाहें खूब फैलाकर उसने कहा—मैंने इत्ते, सब-के-सब खाये।

विमला ने हरीश को देखकर कहा—नहीं खाये।

हरीश बोला—मैंने खाये। सब-के-सब, बादल-जित्ते मैंने आम खाये।

विमला—नहीं खाये।

हरीश—मैंने, मैंने, मैंने रामजी-जित्ते खाये!

यह कहते-कहते उसका फेफड़ा भर गया, मानो अब इससे अधिक पूर्णता कहीं और नहीं है। मानो कि बस अब आगे किसी के लिए भी गति नहीं है।

विमला ने हरीश के इस निश्चिन्त गर्व को देखा। उनकी तमाम गिनती जहाँ पहुँचकर शान्त हो जाती हैं, तमाम कल्पना, तमाम शक्ति जहाँ पहुँच-कर समाप्त और सम्पूर्ण हो जाती है, वह हैं रामजी! पर वह रामजी क्या हैं?

विमला ने कहा—मैंने दो रामजी-जित्ते खाये।

इस पर तनिक गम्भीर सदय भाव से हरीश ने कहा—रामजी दो होते ही नहीं, विमला।

विमला आग्रही बनकर बोली—होते हैं।

उस समय गुरुता के साथ हरीश ने कहा—विमला, रामजी दो नहीं होते।

सुनकर विमला चुप हो गई। उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था, कि वह हारी है। न हरीश को अपने जीतने का मान था, मानो हार-जीत दोनों रामजी में आकर अपना द्वित्व खो बैठे हैं। मानो जीत भी वहाँ वही है जो हार है।

मैं यह सब देख रहा था। मैंने देखा कि रामजी तक आकर वे दोनों परस्पर निस्तब्ध हो गये हैं। वे दोनों एक दूसरे को देख रहे हैं; पर ऐसे जैसे कि कहीं अन्यत्र पहुँचकर वे मिल गये हों और आपस की पृथकता उन्हें समझ न आ रही हो। मानो कि एक दूसरे को देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ उनके बीच संभव ही न हो।

थोड़ी देर बाद हरीश ने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेंह कौन बरसाता है?

विमला—बादल बरसाते हैं।

हरीश—बादल नहीं बरसाते हैं।

विमला—तो कौन बरसाता है?

हरीश ने बताया—रामजी बरसाते हैं।

उस समय मुझसे रुका न गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया। कहा—कोई भी मेंह नहीं बरसाता जी। इतनी देर से बादल भर रहे हैं। बताओ, कहीं मेंह बरस भी रहा है! (और मैंने विमला को गोदी में उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू, तुम्हारा रामजी मेंह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई।

पंडितजी की कथा सुनकर मुझे वह बालकोंवाला रामजी याद आ गया। पंडितजीवाले रामचन्द्रजी जो बाक़ायदा दशरथ के पुत्र हैं और जो निश्चित घड़ी में जन्म लेते हैं, क्या वही हैं, जो बालकों का मेंह बरसाते हैं? दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी तो पंडितजी की पंडिताई के मालूम हुए। बादलों के ऊपर, आसमान के भी ऊपर, सभी कुछ के ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकार के रामजी रहा करते हैं, मेंह तो वह बरसाते हैं। वह रामजी पंडिताई के नहीं, वह तो बालकों के बालकपन के ही दीखते हैं। मैं सोचने लगा कि पंडित का पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चे के बच-

पन से गम्भीर सत्य नहीं है ? बालक का रामजी, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन राजा रामचन्द्र से, जिनका रत्ती-रत्ती ब्यौरा पंडितजी को मालूम है, क्या कभी भी जीत सकेगा ? क्या बालक बालक और पण्डित महान् नहीं है ? लेकिन वहाँ बैठे-बैठे मुझे प्रतीत हुआ कि दशरथ के पुत्र-वाले रामचन्द्र में जो कि पण्डित की व्याख्याओं में प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मन को उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है। बच्चों का रामजी, कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम होता है।

तभी मेरी पण्डितजी की ओर निगाह गई। उन्होंने मुख पर हाथ फेरा, केशों को तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किंचित् स्मित से मुस्कराये और अत्यन्त सुरीली वाणी में तनिक अतिरिक्त मिठास के साथ ताल-लय के अनुसार रामायण की चौपाई गा उठे—

उनके निर्दोष गायन और पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृता से प्रभावित होकर मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडितजी के निकट अपना वाणी-विलास, अपना वाक्-कौशल, अपनी ही सत्ता दशरथ-पुत्र की सत्ता से अधिक प्रमुख और अधिक प्रलोभनीय नहीं हैं ? मुझको ऐसा लगा कि उन पुण्यश्लोक रामचन्द्र को तो मैं मानूँ या नहीं भी मानूँ ; पर उनकी कथा को लेकर इन पंडितजी के मुँह से अविराम निकलती हुई सुललित वाग्धारा को तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा—कुछ ऐसा जादू पंडितजी में था। मुझे प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो रामकथा का सुमिष्ट वाचन है। राम तो राम थे ; वह कभी होंगे ; पर आज तो देखो, यह पंडितजी उस कथा का कैसा सुन्दर पारायण करते हैं ! कहो, पण्डितजी श्लाघनीय नहीं हैं ?

मुझको वे बच्चे याद हो आये जो रामजी की याद में जैसे सुध-बुध बिसार बैठे थे। उनके लिए रामजी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त हो ; पर वह था। उस नाम पर वे उत्साहित हो सकते थे, या चुप हो सकते थे। था तो वह बालकों का बचपन ही, पर फिर भी यह बचपन उनका भाग था। 'राम'—यह मात्र शब्द उनके लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था।

पण्डितजी के दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं ? मुझे जानना चाहिए कि वह रामचन्द्र अधिक स-इतिहास हैं, उनका नाम-धाम, पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, तिथि-ब्यौरा, उनके बारे का सब कुछ यह पण्डितजी जानते हैं। वह रामचन्द्रजी आवश्यक-रूप में अधिक प्रमाण-युक्त, शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कम प्रश्न किये जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नों का उत्तर पंडितजी से पाया जा सकता है। लेकिन क्या

इसी कारण वह रामचंद्र पंडितजी से दूर और अलग नहीं बन गये हैं? रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे; पर पण्डितजी अपने पिता के पुत्र हैं। इसलिए रामचन्द्रजी जो रहे हों, रहें, पण्डितजी तो पण्डित ही रहेंगे। हाँ, राम-कथा करना उनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंग से वे उस कथा को कहेंगे। तदुपरांत रामचन्द्र अलग, वह अलग। उनका जीवन अपना जीवन है। वे उस जीवन का कोई भाग रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथ में क्यों देंगे?

यह सोचते-सोचते मैंने देखा, कि राम-कथा स्नेह से भींगी पण्डितजी की तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्ग की ओर से हटकर, रह-रहकर, धर्म-प्राण भक्ति-प्रवण अबलाओं की ओर अधिक आशा-भाव से बँध जाती है!

मुझे मालूम हुआ, कि मैं पण्डितजी के रामचन्द्र को छोड़कर बालकों के रामजी की ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ, तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का अपमान क्वचित् न होगा।

मैं उठा। इतने में पड़ोसी सज्जन लपककर पास आये, बोले—बैठिए-बैठिए, बाबूजी।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा जरा...

सज्जन ने हाथ जोड़कर कहा—जाइएगा? आपने बड़ी कृपा की। लीजिए, यह प्रसाद तो लेते जाइए।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया।

गीत

श्री सर्वदानन्द वर्मा

क्या करूँगा मैं सुमुखि! कह चिर पिपासा की कहानी।
कौन आया था न जाने कब हृदय में शाप सा बन॥
जो सजनि वरदान था अब टीसता अभिशाप सा बन।
ढूँढ़ता फिर चिर तृषित उर क्यों वही मधुबूँद पानी॥ क्या करूँगा०॥
जल चुका सब, अब रहा क्या शेष जो जल रही होली।
आह रे यह पी कहाँ की कुदिन में कैसी ठिठोली॥
मैं नियति-कर का खिलौना वेदना का मौन दानी॥ क्या करूँगा०॥
यह जलन अक्षय अमर री वेदना मेरी सुहागिन।
विरह निशि आँसू भरे दृग झेल लेंगे नभ नखत गिन॥
चल रहा हूँ अब अकेला ले व्यथा का भार रानी॥ क्या करूँगा०॥

मोटर-दुर्घटना

कुमारी शकुन्तला जैन

मैं एक चीख़ सुनकर चौंक पड़ी। हैं, यह क्या? खून से लथपथ एक आदमी!

हमारा मकान बस्ती से बाहर एक सड़क के किनारे पर था। उस सड़क पर रात-दिन मोटर-गाड़ी चलती रहती थी। यह ख़ैरियत थी कि ट्राम-गाड़ी उस सड़क पर न चल सकती थी; क्योंकि वह सड़क छोटी थी। यदि वह बड़ी होती, तो हमारी रात की नींद हराम ही थी। इन्हीं मोटर-गाड़ियों के मारे रात-दिन नाकों दम था। इस शोर-शराबे के मारे मेरे पिता ने बस्ती से बाहर मकान लिया था; परन्तु कौन हमें सुखी देख सकता है। बड़ा शहर ठहरा! कलकत्ते-जैसे शहर में भला सड़कें किस प्रकार ख़ाली रह सकती हैं। सड़कों पर कौन दया करे? वह बेचारी बोलकर अपना दुःख तो नहीं कहने आती। शायद इस न कहने का ही उसको यह दण्ड मिलता है, कि उस पर मनमानी मोटर-गाड़ी-साइकिल चलाई जाती है। हमारे मकान से कुछ दूर पर दूसरी सड़क थी। वहाँ की ट्राम-गाड़ी हमको अपने छज्जे से दिखलाई देती थी। उसी छज्जे पर से खड़ी होकर मैं प्रतिदिन मोटर-गाड़ी, साइकिल आदि की दुर्घटनाएँ देखती रहती थी; परन्तु यह आज की दुर्घटना भयंकर थी। उसका जब मुझे ख़्याल आता है तो मैं अब भी उसी घटना को आज की ही घटित घटना समझ बैठती हूँ।

गर्मियों के दिन थे, अप्रैल का महीना। उस समय शायद मेरी उम्र कोई सात वर्ष की होगी। मेरी माँ ने मेरे लिए एक टाइम-टेबिल बना रक्खा था, मैं उसी के अनुसार अपना काम करती थी। सुबह का वक्त था, मैं उसी छज्जे पर बैठकर दूध-रोटी का नाश्ता कर रही थी। वहाँ से मुझे सड़क पर का सारा दृश्य दिखलाई देता था। मैं प्रतिदिन इसी स्थान पर बैठकर दोनों वक्त नाश्ता करती थी। इस तरह एक ही पंथ दो काज हो जाते थे। मैंने चीख़ सुनी और चौंककर खाते-ही-खाते खड़ी होकर सड़क का दृश्य देखने लगी। देखती क्या हूँ, कि हमारे मकान से कोई दो क़दम पर कुछ आदमियों की भीड़ लगी हुई है। पास में एक मोटर खड़ी है जो सामान ढोने की है। निकट एक आदमी पड़ा है जो खून से लथपथ है। बराबर में साइकिल पड़ी है जो मालूम होती है, उसी आदमी की है जो मोटर के नीचे आकर इस लोक से विदा हो चुका है। देखते-देखते भीड़ का जमघट-सा लग गया है। आपस में चर्चा हो रही है, कि इस मोटरवाले की भूल है, इसने देखकर मोटर नहीं चलाई, इसीने इस आदमी को मारा है। कोई कह रहा है कि नहीं, ड्राइवर की भूल

नहीं है, इसी की भूल है। साइकिल तो चलानी आती नहीं, चले साइकिल पर चढ़कर! मालूम नहीं है कि यह कलकत्ता शहर है, यहाँ पर चलना मानो जलती आग पर चलना है। अब पता चला लाला को कि किस तरह से साइकिल चढ़ना चाहिए। बेसमझी का यही तो नतीजा है। इतने में एक बोल उठा और कहना आरम्भ किया, कि नहीं, इस बेचारे ने क्या नासमझी की है, यह तो इसी ड्राइवर का दोष है जो इन दो आँखों से काम नहीं लेता। भला यह आँखें हैं किस लिए? भगवान् ने तो इन्हें इसी लिए दिया है, कि इनसे देखकर ठोकर से बचो, ग़रीबों को देखकर उनकी सहायता करो। जो जैसा करता है, भगवान् वैसा ही फल चखाता है। भीड़ में जो आता, वही पूछता—'क्या हो गया?', 'कैसे हुआ ?', 'इसमें किसका दोष है?' जिनको जो कुछ भी एक दूसरे के बारे में थोड़ा बहुत ग़लत या सही मालूम होता, वही नये मनुष्यों से बताता जाता था।

इस तरह बातें करते-करते उन्हें करीब आध-पौन घंटा हो गया। इतने में भीड़ की एक तरफ़ से शोर होने लगा—हटो, हटो, पुलिस आ गई, 'इनक्वायरी' के लिए। हटो, जगह छोड़ो।

मैं यह सब कुछ देख रही थी। हमारा छज्जा काफ़ी ऊँचा था। हाथ सने हुए लेकर मैं दौड़ी-दौड़ी अन्दर गई। माँ उस वक्त दूध ठंडा कर रही थी। मैं चिल्लाती हुई बोली—'माँ, माँ, बाहर चलकर देखो, क्या हो गया। एक आदमी ख़ून से लथपथ ज़मीन पर पड़ा है। पुलिस आ गई है, उसकी जाँच कर रही है।' यह सब बातें मैं एक ही साँस में कह गई।

'चलूँ, मैं भी देखूँ। यह दूध का गिलास ज़रा अपने पापा को तो दे आ।'

मैं दौड़कर दूध का गिलास पापा को दे आई। उनसे भी मैंने दुर्घटनावाली बात एक ही साँस में सुना दी। पापा ने मेरी बात सुनकर अपना काम ज्यों का त्यों छोड़ दिया और कहा—'चलूँ, मैं भी देखूँ।' मैं उन्हें साथ लिये छज्जे पर आ गई। अम्माँ और पापा दोनों देखकर आश्चर्य में रह गये।

पुलिस जाँच-पड़ताल कर रही थी। तरह-तरह की बातें पूछकर पुलिस-इंस्पेक्टर ने अपनी डायरी में नोट कर लीं। फिर उसने मोटर की पहियों को देखा, फिर उस जगह को देखा जहाँ ख़ून के निशान थे। बाद में उस आदमी को देखा जो ख़ून से लथपथ था।

यह दुर्घटना मेरे जीवन की पहली ही दुर्घटना थी। मैंने भीड़-भाड़ तो बहुत देखी थी; परन्तु इस तरह की दुर्घटना कभी नहीं देखी थी; इसलिए बड़े ग़ौर से सब बातें देख रही थी—मेरी उम्र ही क्या थी, केवल सात ही वर्ष की तो!

मेरी उत्सुकता अगाध थी। मैंने सब तरह की बातें पापा से पूछीं। पुलिस क्या होती है, अदालत, जेल, फाँसी क्या होती है—ये सभी बातें पूछकर मैं जानना चाहती थी। पापा बताते-बताते अन्त में तंग आ गये और मुझे चुप हो जाना पड़ा।

यह घटना क़रीब आठ बजे घटी थी और अब ग्यारह के क़रीब बज रहे हैं। अम्माँ को तो काम करना था, इसलिए वह तो कुछ देर देखकर अपने काम में लग गईं ; पर ऐसा जान पड़ता है, कि इन भीड़ के आदमियों को तो कुछ काम ही नहीं है और आस-पास के मकान पर खड़े होकर देखनेवाले तमाशगीरों को भी कुछ काम नहीं दिखाई पड़ रहा है। शायद यह आज मनभर तमाशा देख रहे हैं कि फिर कभी देखने को मिलेगा ही नहीं। और इस भीड़ को तो देखिए। सिर पर धूप चढ़ आई है, गर्मी के दिन हैं, ग्यारह बजे तो कोई बाहर निकलने का नाम तक नहीं लेते। आज इन्हें क्या हो गया है ? घर जाने की सुध ही नहीं है ! इनको हटाते-हटाते पुलिस तंग आ गई। आख़िर पुलिस ने तंग होकर किसी तरह झगड़े को ख़तम करना चाहा और भीड़ को भगाना चाहा। उसने एक टैक्सी में लाश को उठाकर रख दिया, साइकिल को भी रखवा दिया, दो-तीन आदमी उसमें बैठाये और टैक्सी जाने कहाँ रवाना कर दी। इसके बाद भीड़ कुछ कम होनी शुरू हुई। अब पुलिस-इंस्पेक्टर ने आस-पास के घरों में जाना आरम्भ कर दिया। मैं सोचने लगी, भला आस-पास के मकानवालों ने ऐसा कौन-सा अपराध किया है। उन्होंने तो केवल तमाशा ही देखा है, और तो कुछ नहीं किया। पापा खड़े-खड़े थककर न जाने कब चले गये थे। मैंने यह तमाशा शुरू से आख़िर तक देखा। बड़ी मोटर अभी तक खड़ी हुई थी। उसका ड्राइवर तो उसी लाश के साथ चला गया था। मैं सोचने लगी। ड्राइवर तो चला गया, अब मोटर कौन चलायेगा। तमाशा देखने में वक़्त का कुछ ख़याल ही न रहा था। उसी वक़्त घड़ी ने टन-टन बारह बजाए। माँ ने आवाज दी, 'रानी, आज नहाना-धोना नहीं है ? खाना तैयार हो गया। सवेरे से वहीं खड़ी है ! वहाँ से तुझे अब हटना ही नहीं है क्या ?'

मैं चिल्लाती हुई गई—आई माँ, मैं अभी आई, अभी आई ! लाओ मेरे कपड़े कहाँ हैं, मैं नहाने जाती हूँ। जल्दी दो, मुझे देर हो रही है। माँ, तुम तो उठती ही नहीं ! लो, मैं नहाने नहीं जाती। इतनी देर कर रही हो, देर तो पहले ही हो गई !

माँ चिल्लाती हुई उठी और कहने लगी—'हाँ, अब देर हो रही है ! तब से देर नहीं हो रही थी ? बारह बज गये, अब नहाने की सुधि आई है ! उठते-उठते तो उठूँगी।' कपड़े निकालकर देती हुई बोली—'ले, अब लेती है या नहीं ! मुझे तो देर हो रही है, मेरी रोटी जल रही होगी। ले पकड़ कपड़े ! देख, देर तो पहले ही हो गई है, और देर क्यों करती है।'

मैं चुपचाप कपड़े लेकर नहाने चली गई। नहाकर जब आई, तब देखती क्या हूँ कि मेरे पापा के पास वही इंस्पेक्टर हैं जो अभी अपनी डायरी में सब बातें नोट कर रहे थे। पापा से बात कर रहे हैं। पापा ने मुझे देखकर कहा—'रानी, इधर आओ। देखो यह तुम्हें बुला रहे हैं।'

मैंने कहा—मैं अभी आई, पापा !

पापा बातें करने में लग गये।

मैं पापा की गोदी में बैठ गई। पापा ने कहा—यह मेरी इकलौती लड़की है। इसका नाम रानी है। इसे इस दुर्घटना का सब हाल मालूम है। इसी ने मुझे इस घटना की सूचना दी थी।

इंस्पेक्टर ने मुझसे सब बातें पूछनी आरंभ कर दी। मैं निस्संकोच भाव से जो कुछ भी बताती गई, वह अपनी डायरी में लिखते गये। मैंने यह भी बताया कि मैं इस जगह इस प्रकार से बैठी हुई थी, इधर से मोटर आ रही थी, इधर से साइकिल आ रही थी। मैंने बैठ-उठकर सब बातें ज्यों की त्यों बता दी। इंस्पेक्टर साहब ने भी मेरी ही तरह क़वायद करना शुरू कर दिया। सब बातें उन्होंने लिख लीं। मैं इतने थोड़े समय में ही उनसे परिचितों की भाँति बातचीत करने लगी। उन्होंने भी बड़े प्रेम से बातें कीं। पापाजी ने उन्हें जलपान कराया। इंस्पेक्टर साहब ने पापा से कहा—रानी ने सब बातें सच-सच बताई हैं। आपको इसे गवाही के लिए भेजना होगा। पापा ने भेजने के लिए 'हाँ-हूँ' कर दिया और वह मुझे प्यार करके चले गये।

(२)

मैं अम्माँ और पापा की बड़ी लाड़ली थी। दोनों ही मुझे घर पर पढ़ाया करते थे। स्कूल इसलिए नहीं भेजते थे कि माँ घर पर मेरे बिना अकेली किस प्रकार रह सकेगी। पापा के बहुत कहने-सुनने पर शाम को एक घंटे अखाड़े भेजना ही पड़ता था।

मैं इकलौती थी और पापा मुझे अभिमन्यु कहकर मानो मुझे और अपने को विश्वास दिलाते थे, कि लड़की हूँ तब भी उनके लिए लड़का भी मैं ही हूँ। अखाड़े में मैं तीर-कमान, बर्छी-तलवार चलाना सीखती थी और होशियार भी समझी जाती थी। मुझे याद है, एक रोज़ मेरे अखाड़े का टूर्नामेंट हुआ और मैंने अपने से अधिक उम्र के एक लड़के को बर्छी के युद्ध में बुरी तरह हराकर गिरा दिया था।

एक दिन की बात है, मैं अखाड़े जा रही थी, कि किसी ने मुझे पीछे से आकर गोद में उठा लिया। ग़ौर से देखने पर जान पड़ा कि यह तो वही ड्राइवर है, जिससे वह घटना हुई थी। उसने मुझसे कहा—तुम्हारा क्या नाम है ? तुमने मुझे पहचाना या नहीं ? मैं वही अपराधी हूँ, जिसने साइकिलवाले को मार डाला था। इन्स्पेक्टर साहब ने तुम्हारा परिचय बताया था, कहा था, कि तुम गवाही दोगी। मैंने रोज़ तुम्हें इधर जाते देखा, आज पूछ ही तो बैठा।

'मेरा नाम रानी है। मैंने वह घटना देखी थी और तुम्हें भी देखा था। तभी तो इतनी जल्दी पहचान लिया। पेशी कब है ? पापाजी न मालूम भेजेंगे या नहीं। अभी तो उस घटना को हुए सात ही दिन हुए हैं। मुझे सब याद है।'

'देखो रानी, तुम्हें पेशी में ज़रूर ही आना चाहिए। मौत की सज़ा मौत

हो सकती है। यों एक-न-एक दिन मरना ही है; पर एक बात से डरता हूँ।'

'किस बात से?'

'मैं परदेसी हूँ। मेरे दो बच्चे हैं। दोनों ही छोटे हैं। दोनों ही अपनी नानी के पास रहते हैं। माँ को मरे अभी दो महीने भी नहीं हो पाये, कि यह नई मुसीबत आ खड़ी हुई। उन्हीं का मुझे ख़्याल है कि वह संसार में किसके सहारे खड़े रह सकेंगे? उन्हें कौन पूछेगा?'

'तुम यहाँ किस लिए आये हो?'

'रानी, पेट के लिए, यहाँ पर इतनी दूर आया हूँ। जिसके लिए मैंने अपना घर-बार त्यागा, वह भी चल बसी। अब एक नया रोग और पैदा कर लिया। इससे कैसे छुटकारा मिल सकेगा?'

'तुम इतना घबराते क्यों हो? घबराने की कोई बात नहीं। सब ठीक हो जायगा। इंस्पेक्टर साहब ने पापा से मुझे गवाही के लिए भेजने को कहा था; पर मालूम नहीं, वह भेजेंगे या नहीं?'

'भेजेंगे क्यों नहीं, ज़रूर भेजेंगे। तुम नहीं गवाही दोगी, तो यह पुलिस-वाले मुझे मरवाकर ही छोड़ेंगे। यह लोग किसी को ज़िन्दा या सुखी देखकर कैसे चुपचाप बैठ सकते हैं।'

'मैं तो कुछ नहीं जानती अदालत में क्या होता है। मैंने कचहरी कभी देखी ही नहीं। मुझे यह भी नहीं मालूम, मुझे क्या कहना होगा। क्या तुम यह सब कुछ जानते हो? मुझे बता सकोगे? वहाँ पहुँचकर मुझे क्या कहना चाहिए।'

ड्राइवर ने सभी बातें विस्तार पूर्वक रानी को बता दीं। रानी ने उसकी सभी बातें बड़े ध्यान से सुनीं और सोचने लगी, हाँ, यह ड्राइवर ठीक ही तो कहता है। वह साइकिलवाला तो मर ही गया। अब इसको भी क्यों मरने दिया जाय। उसके पीछे नाहक़ इसकी भी जान जाय, यह तो ठीक नहीं। यह तो परदेसी है, इसके बच्चे वहाँ हैं, वह किसके पास रहेंगे? यही सब कुछ सोच-समझ कर रानी ने सभी बातें ज्यों-की-त्यों दुहरा दीं और पूछा—ठीक है, यही मुझे कहना होगा?'

'हाँ, रानी ठीक है, जो तुम कहोगी, सभी बातें सत्य मानी जायँगी; क्योंकि तुम छोटी हो, अभी झूठ बोलना नहीं सीखी हो, जो कुछ भी कहोगी सब ठीक कहोगी। अच्छा रानी, मैं अभी आता हूँ। तुम यहीं बैठी रहो।'

ड्राइवर कहने के साथ ही चल दिया, रानी कुछ कह भी नहीं पाई। कुछ ही देर में सामने हाथ में पत्ते से ढका हुआ दोना लिए हुए ड्राइवर आया। रानी ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—तुमने यह क्या किया? यह तुम क्या लाये? यह तो मैं नहीं खाऊँगी। मैं जाती हूँ। मुझे देर हो रही है। मास्टर साहबजी देर से आने पर नाराज़ होंगे, मुझे जाने दो।

'नहीं रानी, ऐसा नहीं हो सकता। बिना कुछ खाये मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। तुम्हें आये काफ़ी देर हो गई। यह खाना होगा।'

रानी के ना करने पर भी ड्राइवर ने रानी को गोद में बिठाकर बड़े प्रेम से गरम-गरम जलेबी खिलाई और रानी को गोद में ले जाकर उसे अखाड़े तक पहुँचा दिया।

घर पहुँचकर खुशी-खुशी माँ से सब बातें सिलसिलेवार कह सुनाईं। आज मैं बड़ी प्रसन्न थी। उस दिन जीत की जितनी खुशी नहीं थी, उससे कहीं अधिक मैं आज खुश थी। माँ मेरी बातें सुनकर कुछ देर चुप रही। बाद में आँखों में पानी भरकर वहाँ से चली गई। मैं सोचने लगी, और आँखों में पानी भर आने का कारण ढूँढ़ने लगी; पर कुछ खोज न पाई; शंकित मन लेकर अपने काम में जुट गई।

(३)

आज कचहरी जाना है, मुक़दमे की पेशी है। कचहरी मेरे लिए नई चीज़ है। इंस्पेक्टर साहब ने मेरे पीछे आकर दो दिन पहले ही से मेरे पापा को कचहरी भेजने के लिए राज़ी कर लिया। पापा आनाकानी के बाद राज़ी हो गये थे।

मैं आज सुबह ही से तैयार होकर बैठ गई; न जाने इंस्पेक्टर साहब कब आ जायँ। उत्सुकतावश कई बार छज्जे पर भी जा चुकी थी। अपने दरवाज़े पर कोई मोटर न रुकती देख निराश होकर लौट आती थी। इस समय एक-एक पल भी युग के समान जान पड़ता था। दस बज चुके थे। अभी तक नहीं आये। आख़िरकार तंग होकर पापा के पास गई, पूछा—पापा, क्या बजा है?

'अभी तो दस ही बजे हैं, क्यों तुझे क्या काम है?'

'काम तो कुछ भी नहीं, कचहरी किस समय से शुरू होती है।'

'दस बजे से। हाँ, आज तो तुझे कचहरी जाना होगा। तभी पूछने आई है। मुझे तो ख़्याल भी न था। इंस्पेक्टर साहब नहीं आये?'

'नहीं, अभी तो नहीं आये।'

'आते होंगे, तुझे क्या जल्दी है। तुझे ले जाना जब ठीक समझेंगे, तब ले जायँगे।'

मैं चुपचाप वहाँ से चली आई। अधिक बातें करना ठीक न था। कहीं पापा नाराज़ न हो जावें। जैसे-तैसे तो राजी हुए हैं। मुझे भेजेंगे नहीं तो मैं कर ही क्या सकती हूँ? किसी प्रकार मन मारकर पुस्तक लेकर बैठ गई; पर मन भी तो ऐसा चंचल था। उसे पुस्तक में क्या मिलता! मन? वह क्या देखता है, पढ़ने में ध्यान ही नहीं लगाता! मन के आगे मेरी चल ही क्या सकती थी? किताब एक तरफ़ पटककर मोटर आने के इंतज़ार में बैठ गई।

इतने में किसी ने आवाज़ दी—रानी, रानी चलो, जल्दी चलो!

मैं तो कब की तैयार बैठी थी। फ़ौरन ही पापा के बुलाने के पहले ही सामने

आकर खड़ी हो गई। पापा मेरी उत्सुकता देखकर एक बार बड़े ज़ोर से हँस पड़े। मैं इन्स्पेक्टर साहब का हाथ पकड़े चल पड़ी और उन्हें तरह-तरह के प्रश्न पूछ-पूछकर तंग करने लगी। यहाँ से कचहरी कितनी दूर है, वहाँ कितनी देर लगेगी, वहाँ क्या होता है, आदि बातें करती रही। वह मेरी सब बातों का जवाब बड़े प्यार से देते गये। कचहरी पहुँचकर मैं उसे बड़े ग़ौर से देखने लगी, क्योंकि वह मेरे लिए नई चीज़ थी। वहाँ की साधारण-से-साधारण वस्तु भी मेरे लिए अनोखी थी। धीरे-धीरे भीड़ जमा होने लगी और मैं उस भीड़ में उसी ड्राइवर को आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी ; पर वह कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता था। भीड़ के सभी मनुष्य आपस में काना-फूसी करते हुए मुझे देखते थे। कई तो हिम्मत करके बड़े प्यार से पूछते—क्यों बेटी, तुम भी गवाही देने आई हो ? मैं उनकी सब बातों का उत्तर 'हाँ' में दे देती।

कचहरी की कार्यवाही शुरू हो गई। मैं इन्स्पेक्टर साहब की गोद में बैठ गई। जब सबकी गवाही हो चुकी, तब मेरी बारी आई। मुझे इन्स्पेक्टर साहब ने उसी कठघरे में ले जाकर खड़ा किया, जहाँ पर सब खड़े हो चुके थे। मैं निडर होकर खड़ी हो गई। सभी मनुष्य मेरी ओर बड़ी कौतूहल पूर्ण दृष्टि से देखने लगे। ड्राइवर की शकल देखकर मुझे दया आई। उसकी आँखों में आशा थी, वह करुण दृष्टि से देख रहा था।

'तुमने यह दुर्घटना देखी थी ?'—वकील ने पूछा।

'जी, देखी थी।'

'तुम उस समय कहाँ थी और क्या कर रही थी ?'

'मैं अपने छज्जे पर बैठी थी और दूध-रोटी खा रही थीं।'

यह बात सुनकर सभी सज्जन बड़े ज़ोर से हँस पड़े। शायद मेरी सरलता पर हँसे होंगे। वकील ने शोर शान्त किया।

'तुमने साइकिलवाले को देखा था ?'

'जी, देखा था।'

'मोटर भी देखी थी ?'

जी, देखी थी।

'फिर क्या हुआ ?'

'एक तरफ़ से मोटर आ रही थी दूसरी तरफ़ से साइकिल। मोटर ने हॉर्न बजाया। साइकिल वाले ने सुना और सुनकर वह उधर ही को मुड़ा जिधर से मोटर आ रही थी। मोटर तेज़ थी, ड्राइवर ने रोकनी चाही ; पर रुक न सकी और साइकिल वाला घबराकर अपना बचाव न कर, मोटर के नीचे आ गया। मोटर बड़ी थी, तभी वह वहीं मर गया। उसके ख़ूब ख़ून निकला, मोटर की पहिया भी ख़ून में सन गई थी।'

फ़

सभी लोग मेरी यह पिछली सरल बात सुनकर हँस पड़े ; पर मैं न हँसी ।

'तो क़सूर इसमें साइकिलवाले का है ?'—वकील साहब ने पूछा ।

'हाँ ! वह आनेवाली सड़क से क्यों जा रहा था ? जब साइकिल चलानी नहीं आती थी, तब एक किनारे क्यों नहीं चलाई ? हॉर्न भी नहीं सुना और चलता ही चला गया ।'

वकील साहब मेरी निडर होकर कही हुई सच्ची बातों को सुनकर अवाक् रह गये। उन्हें कभी स्वप्न में भी ख़्याल न था कि मैं इतनी बातें बिना हिचक के कह सकूँगी। सभी बातें उन्होंने एक काग़ज़ पर लिख लीं। जज साहब भी अपना सारा ध्यान अन्य स्थान से हटाकर बड़े ध्यान से सुनने लगे। सुनने के बाद कहा—हाँ बेटी, तुमने जो कुछ भी कहा, सब सच कहा। इसमें कोई भी बात असत्य नहीं है।

'बस बेटी, अब तुम बैठो अब कुछ नहीं पूछना है।'—वकील साहब ने कहा।

मेरे चुप होने के साथ ही कचहरी तालियों की आवाज़ से गूँज उठी। चारों तरफ़ शोर होने लगा—कमाल कर दिया इस लड़की ने ! ऐसी आशा नहीं थी। ड्राइवर साफ़ बच गया। इसने तो मुक़दमे का रुख़ ही बदल दिया। सभी मुझे बारी-बारी से गोद में लेकर प्यार करने लगे। ड्राइवर एक तरफ़ खड़ा होकर अपनी बारी आने की इन्तज़ार करने लगा।

भीड़ में से किसी ने पीछे से मेरे पैर छुए। मैंने मुड़कर देखा। यह तो वही ड्राइवर है जो कुछ देर पहले दोषी था, जिसे क्या जाने क्या सज़ा होनेवाली थी। मैंने कहा—'हैं ! यह तुम क्या कर रहे हो !' मैं दो क़दम पीछे हट गई।

'नहीं रानी, तुम देवी हो, सच्ची देवी हो। तुमने मुझे मौत के मुँह से बचा लिया। ऐसा काम देवी के सिवा अन्य कोई भी नहीं कर सकता।'

मैं उसकी सूरत बड़े ग़ौर से देखने लगी। जिस चेहरे पर कुछ समय पहले मुर्दनी छाई हुई थी, वह अब खिला हुआ है। जान पड़ता है, उसे जीवनदान मिला है। वह उसकी खुशी में फूला नहीं समाता। अब वह दीनता जाने कहाँ गई। अब वह न दरिद्र है, न दीन है, न हत्यारा है। अब वह निर्दोष है !

घर पहुँचकर सभी बातें सिलसिलेवार सुनाने पर माँ और पापा का अगाध उमड़ा हुआ प्यार पाया।

(४)

मेरा अखाड़ा जाना उसी प्रकार जारी रहा। अपनी सभी बातें मैंने अपनी सहेलियों से कहीं। सभी ने मेरी बातें बड़े चाव से सुनीं। बीच में ड्राइवर का घर पड़ता था। बिना वहाँ ठहरे कभी मैं घर आया ही नहीं करती थी, उसके साथ कुछ देर हँस-खेल आती थी। वह बड़े प्यार से कहता—रानी, तुम्हारे रोज़-रोज़ आने से यह मेरी सूनी कोठरी आबाद हो गई। जब तुम आ जाती हो, तब मैं यह भूल जाता हूँ कि मैं परदेश में हूँ। अब मुझे बच्चों की भी याद उतनी नहीं

सताती जितनी पहले। मैं उसे जब ज़ोर से ड्राइवर कहकर आवाज़ देती, तब वह एक बार बड़ी ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़ता। मेरा प्यार से कहा हुआ ड्राइवर शब्द उसे बड़ा मधुर जान पड़ता था। कहता था—फिर कहना रानी! मैं कान के पास ज़ोर से चिल्लाकर कहती—ड्राइवर, ओ ड्राइवर! तब वह कहता—यह घटना न होती तो तुम यहाँ इस ग़रीब की छोटी-सी कुटिया में कैसे आतीं रानी! मैं उसकी इस करुण पुकार को, हँसकर टाल देती। वह फिर न जाने मूक-भाषा में क्या-क्या कहता रह जाता।

इस मुक़दमे को हुए क़रीब बीस-पचीस दिन हो चुके थे। इसके बाद क्या हुआ, इसका कुछ भी पता नहीं चला। एक दिन इन्सपेक्टर साहब आये। उनसे ज्ञात हुआ, यह मुक़दमा अब हाईकोर्ट में पहुँच गया है। कचहरी में तो कुछ फ़ैसला हो नहीं पाया। उसमें तो ड्राइवर साफ़ बच रहा है। कचहरी की गवाहियों से तो ड्राइवर निर्दोष है; परन्तु ऐसा कैसे हो सकता है? जिसने हत्या की है, वह साफ़ कैसे बच सकता है। पुलिस, वकील, जज आदि कभी किसी को सुखी कैसे देख सकते हैं! कोई बड़ा आदमी होता, उससे तो कुछ गाँठ गरम होने की आशा भी थी; लेकिन यह तो ग़रीब है। इससे तो यह आशा रखना व्यर्थ है। फिर यह मुक़दमा हाईकोर्ट में क्यों पहुँचा? इस 'क्यों' का जवाब बड़ा कठिन है। 'क्यों?' के आगे सभी को हार माननी पड़ी है। शायद इस क्यों का जवाब पुलिस, वकील, जज के पास हो भी तो यहाँ वह क्यों बताने लगे?

इंस्पेक्टर साहब अगली पेशी की तारीख़ बताकर चले गये।

आख़िरकार पेशी की तारीख़ आ ही पहुँची। तीन-चार दिन हो गये। बुख़ार उतरने का नाम ही नहीं लेता। शायद चाहता है कि रानी पेशी में न जावे, उसकी तरफ़ से कुछ भी हो, उसे क्या मतलब! उसने दुनिया भर का ठेका नहीं उठा रक्खा है। सभी तो मरते हैं, कोई आगे या पीछे। वह आज पेशी में न जावेगी तो क्या हो जायेगा? वह मर ही तो जावेगा? मरना तो उसे एक दिन है, अभी सही। नहीं, रानी ऐसा कदापि न होने देगी, उसे मरने न देगी। वह आज अपने बुख़ार और दस्त से युद्ध करेगी और उसे बचावेगी? इसी प्रकार एक-एक मरने लगा, तो दुनिया में कोई भी न बचा रह जायगा? बार-बार घड़ी में देखती। इस वर्षा को भी तो देखो! दो दिन हो गये, झड़ी लगा रक्खी है। बंद होने का नाम भी तो नहीं लेती। आज उसे इन सभी से लड़ना है। यही संकल्प कर लिया। माँ-पापा न जाने देंगे, तो वह उनको मना लेगी। दो बूँद आँसू भी गिरा लेगी; इसके आगे किसी का बस न चलेगा। माँ-पापा में यही तो कमी है। वह मेरी आँखों में पानी कदापि नहीं देख सकते। फिर क्या है, फिर तो उसकी विजय है।

'रानी, क्या सोच रही हो, कैसा जी है?'—माँ ने पूछा।

'कुछ नहीं, अच्छा जी है। आज पेशी है।'

'हाँ, है तो पर...'

'पर क्या, मुझे भी तो जाना है !'

'तुम न जा पाओगी।'

'क्यों ?'

'क्यों क्या ! ऐसी वर्षा, जिसमें तबीयत ठीक नहीं, बुख़ार चढ़ रहा है।'

'कुछ ही तो देर का काम है। उस दिन कितनी जल्दी आ गई थी।'

'रानी ! रानी ! चलो।'—इन्स्पेक्टर साहब ने आवाज़ दी।

'न, रानी न जा सकेगी।'—रानी की माँ ने उठते हुए कहा।

'क्यों ?'

'बुख़ार-दस्त हो रहे हैं। हवा लग जावेगी।'

'नहीं, हवा न लग पावेगी। मोटर में आना-जाना है। मैं भीगने न दूँगा। इसका तो मुझे भी ख़याल है।'—इन्स्पेक्टर ने कहा।

रानी ने सोचा, अब अपना मंत्र काम लाये बिना काम न चलेगा। आँखें भरकर कहा—माँ, जाने भी दो, मुझे कुछ भी न होगा।

'अच्छा जा, बरसाती लेती जाना।'

(५)

हाईकोर्ट में पहुँचकर ड्राइवर ने देखा—रानी एक कुर्सी पर एक कमरे में बैठी है; गरम कपड़े पहने हुए है, बरसाती पास की कुर्सी पर रक्खी है। उसे अकेली पाकर ड्राइवर ने पास पहुँचकर कहा—रानी, कैसा जी है ?

'हैं ! ड्राइवर, तुम आ गये ? तुम्हें तो पहले आना था। अच्छा जी है।'

'हाँ, आना तो पहले था; पर देर हो गई। तुम तो दो दिन में दुबली हो गईं।'

'नहीं, मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ। हाँ, चार-पाँच दिन से बुख़ार और दस्त आ रहे हैं।'

'तो तुम बुख़ार में आई हो !'

'हाँ, क्यों न आती ?'

'तुम न आतीं तो कैसे काम चलता ? मुझे कौन बचाता ? तुम्हारे ही कारण तो हाईकोर्ट तक यह मुक़दमा पहुँचा। देखो, जो तुमने पहले कहा, वही अब भी कह देना।'

'तुम इतना घबराते क्यों हो ? अब तक बचते आये हो, अब भी बच जाओगे। जो तुमने कहा, वही कहूँगी।'

'बस यही चाहिए। अच्छा, अब चलूँ। इन्स्पेक्टर साहब आ रहे हैं।'

'चलो रानी उठो।'—इन्स्पेक्टर साहब ने कहा।

मुक़दमे का काम शुरू होने लगा। पहले वकील साहब ने प्रश्न किये थे,

अब जज साहब ने वही प्रश्न किये। मैं सबका उत्तर देती गई। उन्होंने मेरी तबीयत कुछ खराब-सी देखकर कहा—अच्छा तुम इस कुर्सी पर बैठकर कहो। खड़ी नहीं रह सकती और छोटी भी हो, ऊँची भी हो जाओगी। जज साहब ने सब कुछ लिख-लिखाने के बाद कुछ देर सोचकर कहा—ड्राइवर, देखो, तुम अब तो बच गये, अब आगे से ऐसा काम न करना, देख-भालकर चलाया करो। रानी की गवाही से ही तुम बच पाये हो। रानी, तुमने जो कुछ भी कहा, वह सब सच कहा। तुम्हारे ही बदौलत ड्राइवर जेलखाने से साफ़ बच गया।

मुक़दमा खतम हो चुका। खूब शोर होने लगा। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। सभी मेरी प्रशंसा करते, सभी खुश थे।

'रानी, तुम कुछ खाओगी?'—इन्स्पेक्टर साहब ने कहा।

'नहीं, मैं कुछ न खाऊँगी।'

'कुछ खा लो रानी, तुम्हें आये बहुत देर हो गई।'—ड्राइवर ने हाथ जोड़कर, पैर छूकर कहा।

'न, माँ ने मना कर दिया था।'

'चलो रानी, मोटर आ गई।'—इन्स्पेक्टर साहब ने कहा।

बाहर आकर देखा, वर्षा अभी तक बंद नहीं हुई थी। मैं मोटर में बैठ गई। मोटर के पास खूब भीड़ लग गई। सभी मेंह में भीगने लगे, हटाने पर भी कोई न हटता। सभी मुझे प्यार की निगाह से देख रहे थे। मोटर चलने ही वाली थी कि आवाज़ आई—हटो, हटो, रास्ता छोड़ो! मैंने शोर की तरफ़ देखा, ड्राइवर सिर पर एक मटकी रक्खे और हाथ में एक पिटारा लिये चला आ रहा है।

'रानी, यह लो। और तो तुम्हें कुछ दे नहीं सकता। क्या तुम मुझ ग़रीब की यह तुच्छ चीज़ भी न लोगी? तुम्हारे इस दिये हुए जीवन-दान के आगे यह कोई चीज़ ही नहीं है।'—कहते-कहते उसका गला भर आया, आगे कुछ न कह सका, 'रा...नी।'

मोटर चल पड़ी। मुझे वह सब लेना ही पड़ा। उसे देख मैं अपने आँसू किसी प्रकार भी न रोक सकी। पीछे मुड़कर देखा; वह वहीं ज्यों का त्यों खड़ा है! मानो उसे अब वहाँ से हटना ही नहीं है, मानो वह यहीं अपने प्राण त्याग देगा; पर हटेगा नहीं! आँखों से पानी अभी तक बिना रोक-टोक के बह रहा है। उन्हें अब रोकनेवाला कोई नहीं। वह खोया-सा वहीं खड़ा-का-खड़ा ही है।

घर पहुँचकर इन्स्पेक्टर साहब ने मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। सब बड़े खुश हुए। मैं उनकी खुशी में किसी प्रकार का सहयोग न दे सकी। ड्राइवर की वही करुण-मूर्त्ति आँखों के सामने नाचने लगी। एक कोने में बैठकर जी भरकर मैं खूब रोई, तब कुछ जी हल्का हुआ।

इस जीत की खुशी में माँ ने खूब दावत की। बहुत से मित्र और रिश्तेदार दावत में आये। सभी खूब प्यार करते; परन्तु उनका वह प्यार मुझे नीरस जान

पड़ता था। इसके बाद कई दिन तक मैं बीमार रही, अखाड़े नहीं जा सकी। कमज़ोर भी बहुत हो गई थी। एकाएक पापा की बदली की ख़बर आ गई। कलकत्ता दो-तीन दिन में ही छोड़ने का इरादा हो गया। मैं ड्राइवर के पास किसी तरह से न जा सकी। आख़िर जानेवाला दिन आ गया। गाड़ी में सामान भी लद चुका। अब चलने में कुछ ही देर है। माँ-पापा सब अपने मित्रों से मिलने में लगे हुए हैं। मैं सोचती, हमारे जाने की खबर उसे लग पाती तो...आगे कुछ न सोच पाई; सिसकी बँध गई। रेल ने सीटी दे दी। मैं अपनी खोई हुई चीज़ उस भीड़ में खोजने लगी; पर वहाँ कुछ भी न खोज पाई। गाड़ी फक-फककर चल पड़ी। खोजने पर न पता चला। आवाज़ देकर आज़माने की सोची—ड्रा......इ......पूरा कह भी न पाई थी कि गाड़ी स्टेशन को पार कर चुकी! मैं एक चीख़ मारकर रो पड़ी!!

गीत

श्री 'निराला'

बहती निराधार
पृथ्वी गगन में, अतनु में सुतनु-हार!
शब्द स्वर के भरे
रागिनी के हरे
छाये दिशा-ज्ञान
विचरे अनिल-भार।
नाचतीं ऋतु चपल
पुष्प-लोचन नवल,
भाव के वर्ण-दल
सिक्त हिम-जल-धार।
बहे रस-स्रोत खर
बेध तनु विविध शर,
पार कर गये रे
जग का अपर पार।

साहित्य की सचाई *

श्री जैनेन्द्रकुमार

मेरी उमर ज्यादा नहीं है। पढ़ा भी ज्यादा नहीं हूँ। साहित्य शास्त्र तो बिलकुल नहीं पढ़ा हूँ। फिर भी लिखने तो लगा। इसका श्रेय परिस्थितियों को समझिए। यों अधिकार मेरा क्या है। लिखने लगा, तो लेखक भी माना जाने लगा। और आज वह दिन है कि आप विद्वान् लोग भी आज्ञा देते हैं कि मैं आपके सामने खड़े होकर बोल पड़ूँ।

आप लोगों द्वारा जब मैं लेखक मान लिया गया और मेरा लिखा गया कुछ छपने में भी आया, तब मैं अपने साहित्यिक होने से इनकार करने का हक़ छिना बैठा; लेकिन अपनी अबोधता तो फिर भी जतला ही सकता हूँ। वह मेरी अबोधता निविड़ है। साहित्य के कोई भी नियम मुझे हाथ नहीं लगे हैं। साहित्य को शास्त्र के रूप में मैं देख ही नहीं पाता हूँ; पर शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक हो गया हूँ ऐसा आप लोग कहते हैं। तब मुझे कहना है कि साहित्य शास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्य शास्त्र की अवज्ञा नहीं है, साहित्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा ही है।

साहित्यिक यदि मैं हूँ तो इसका मतलब मैंने अपने हक में कभी भी यह नहीं पाया है कि मैं आदमी कुछ विशिष्ट हूँ। इन्सानियत मेरा सदा की भाँति तब भी धर्म है। सच्चा खरा आदमी बनने की जिम्मेदारी से मैं बच नहीं सकता; अगर साहित्य की राह मैंने ली है, तब तो भाव की सचाई और बात की मिठास और खरापन का ध्यान रखना और इसी प्रकार का अन्य सर्व सामान्य धर्म मेरा और भी धर्म हो जाता है। इस दृष्टि से मैं आज अनुभव करता हूँ कि साहित्य के लिए वही नियम हैं, जो जीवन के लिए हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि जैसा मुझे दुनिया में रहना चाहिए, वैसा मुझे साहित्य में भी क्यों नहीं रहना चाहिए। जितनी मेरे शब्दों में मेरे मन की लगन है उतना ही तो उनमें ज़ोर होगा। ज़िन्दगी ही में नहीं तो शब्दों में ज़ोर आएगा कहाँ से?

अपने जीवन की एक कठिनाई मैं आपके सामने रख दूँ। आँख खोलकर जब दुनिया देखता हूँ तो बड़ी विषमता दिखाई देती है। राजा है और रंक है; पहाड़ है और शिशु है; दुख है और सुख है। यह विषमता देखकर बुद्धि चकरा

---

* नागपुर हिन्दी साहित्य-परिषद् में दिये गये भाषण का अंश।

जाती है। इस विषमता में क्या संगति है? क्या अर्थ है? पर वैषम्य अपने आप में तो सत्य हो नहीं सकता। विषमता तो ऊपरी ही हो सकती है। दुनिया में जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मैं उद्देश्य की, अर्थ की झाँकी न ले सकूँ, तो क्या वह सब कुछ पागलपन न मालूम हो। सब अपना-अपना अहंकार लिये दुनिया से अटकते फिर रहे हैं। इसमें क्या मतलब है? मैं सच कहता हूँ कि इसे देखकर मेरा सिर चकरा जाता है। यह चाँद क्या है? ये आसमान में तारे क्या हैं? आदमी क्यों यहाँ से वहाँ भागता फिर रहा है? वह क्या खोज रहा है? क्या ये सब निरा जंजाल ही हैं, भ्रमजाल ही है? क्या यह समस्त चक्र निरर्थक है? जंजाल मानें, निरर्थक मानें, तो जीयेंगे किस विश्वास के बल पर? अविश्वास पर निर्भर रहकर, तो जीना दूभर हो जायगा। जब-जब बहुत आँखें खोलकर और बहुतेरा उन्हें फाड़कर जगत को समझने का प्रयास करता हूँ, तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है, और मैं विफलता में डूब जाता हूँ। अरे, श्रद्धाहीन बुद्धि तो वन्ध्या है, उससे कुछ फल नहीं मिलता। वह तो लँगड़ी है, हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती।

बुद्धि से विज्ञान खड़े होते हैं। हम वस्तु का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या करके अणु तक पहुँचते हैं। फिर बुद्धि वहाँ अणु के साथ टकराती रहती है। अंत में समझ में क्या आता है? अणु बस अणु बना रहता है। थियरी बस थियरी बनी रहती है। और जान पड़ता है कि न अणु की थियरी सत्य है और न कोई और थिइरी अन्तिम सत्य हो सकेगी। और सदा की भाँति विराट् अज्ञेय हमें अपनी शून्यता में समाये रहता है और हम भौंचक रहते हैं।

विज्ञान की दूरबीन में से सत्य को देखते-देखते जब आँखें हार जाती हैं, सिर दुख जाता है, बुद्धि पछाड़ खाकर स्तब्ध हो रहती है, तब हम शान्ति की पुकार करते हैं। तब हम श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करते हैं। तब हम चैन के लिए, रस के लिए विकल होते हैं। निरुपाय हम आँख मीचते हैं और अपने भीतर से ही कहीं से रस का स्रोत फूटा देखना चाहते हैं। और जो आँख खोलकर नहीं मिला, आँख मीचकर मिल जाता है। बुद्धिमान् जो नहीं पाते, बच्चे-बच्चे बनकर क्या उसे ही नहीं पा लेते हैं? मैं एक बार जंगल में भटक गया। जंगल तो जंगल था। भटक गया तो राह फिर कैसे मिले? वहाँ तो चारों ओर पेड़-ही-पेड़ थे, जिनकी गिनती नहीं, जिन्हें एक को दूसरे से चीन्हने का उपाय नहीं। घण्टे-के-घण्टे भटकते हो गये और मैं अधिकाधिक मूढ़ होता चला गया। तब मैं हारकर एक जगह जा बैठा, और वहाँ बैठा, आँख मीचकर अपने भीतर ही से राह खोजने लगा। और मैं आपसे कहता हूँ कि बाहर खोई हुई राह मुझे भीतर ही मिल गई!

आजकल नये विचारों की लहर दौड़ रही है। मैं आपको अपनी असमर्थता बतला दूँ कि मैं उन लहरों पर बहना नहीं जानता। लहरों पर लहराने में सुख होगा; पर वह सुख मेरे नसीब में नहीं है। हमारे सामने मानव-समाज की

बात कही जाती है। मानव-समाज टुकड़ों में बँटा है। उन टुकड़ों को राष्ट्र कहते हैं, वर्ग कहते हैं, सम्प्रदाय कहते हैं। उन या वैसे अन्य खण्डों में खण्डित बनाकर हम उस मानव-समुदाय को समझते हैं; पर असल में ऐसी कोई फाँकें हैं नहीं। ये फाँकें तो हम अपनी बुद्धि के सहारे के लिए कल्पित करते हैं। मानव-समाज का वह विभाजन हमारी बुद्धि हमें प्रकार-प्रकार से सुझाती है। एक प्रकार का विभाजन अति स्वीकृत हो चला है। वह है—एक मासेज़, दूसरी क्लासेज़; सर्वसाधारण और अधिकार प्राप्त; दरिद्र और विभूति-मज्जित। इन दोनों सिरों के बीच में और कई मिश्र श्रेणियों की कल्पना है। इस विभाजन को ग़लत कौन कहेगा? लेकिन यह मानना होगा कि विभाजन सम्पूर्ण सत्य नहीं हैं। सत्य तो अभेदात्मक है। इस अभेदात्मक सत्य को अपनी बुद्धि से ओझल कर रखने से संकट उपस्थित होगा। फिर एक बात और भी है। मानव-समाज ही इति नहीं है। पशु-समाज, पक्षी-समाज, वनस्पति-समाज भी है। यही क्यों, सूर्य-नभ-ग्रह-तारा-मण्डल भी है। यह सभी कुछ है और सभी कुछ की ओर हमें बढ़ना है। मानव-समाज को स्वीकार करने के लिए क्या शेष प्रकृति को इनकार करना होगा? अथवा कि प्रकृति में तन्मयता पाने के लिए मनुष्य सम्पर्क से भागना पड़ेगा? दोनों बात ग़लत हैं। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुँह रक्खें अवश्य, जहाँ वह इन्सान है जो परिश्रम में चूर-चूर हो रहा है, देह से दुबला है, और दूसरों के समस्त अनादर का बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है। हम उधर देखें जहाँ पुरुष को इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीड़ित मानव-समाज की ओर हम उन्मुख रहें। अपने सुख का आत्म-विसर्जन करें, उनकी वेदना में साझा बटायें। यह सब तो हम करें ही, करेंगे ही। अन्यथा हमारे लिए मुक्ति कहाँ है। पर ध्यान रहे, मानव-समाज पर जगत का ख़ात्मा नहीं है। उनसे आगे होकर भी सत्य है। वहाँ भी मनुष्य की गति है, वहाँ भी मनुष्य को पहुँचना है। और इस जगह पर आकर मैं कहूँ कि अरे, जो चाँद तारों के गीत गाता है, उसे क्या वह गीत नहीं गाने दोगे? उन गीतों में संसार के गर्भ से ली गई वेदना को अपने मन के साथ घनिष्ट करके वह गायक गीत की राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्ताव से और क़ानून से रोकोगे? रोको, पर यह शुभ नहीं है। अरे, उस कवि को क्या कहोगे, जो आसमान को शून्य-दिगम्बर देखता है, कुछ क्षण उसमें लीन रहता है और उसी लीनता के परिणाम में सब वैभव का बोझ अपने सिर से उतारकर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्ती के गीत गाता है? कहे राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोकहितैषी है। उसका प्रयोजन हिसाब की बही में न आये; पर प्रयोजन उसमें है और वह महान् है।

ज्ञान जानने में नहीं, वैसा बनने में है। Knowing is becoming असली जानना पाना है। और पाना तद्रूप, तन्मय हो जाना है। हम मनुष्य-

समाज की सच्ची सेवा स्वयं सच्चा मनुष्य बनकर कर सकते हैं। और अहम्-शून्य हो जाने से बड़ी सत्यता क्या है? कवि स्वयं एकाकी होता है, सम्पदा से विहीन होता है। वह स्वेच्छापूर्वक सबका दास होता है। स्नेह से वह भीगा है और अपनी नस-नस में ग़रीब है। जब वह ऐसा है तब उसके आगे साम्राज्य की भी बिसात क्या है? वह सब उसके लिए तमाशा है। उस कवि से तुम क्या चाहते हो? क्या उससे सुधार चाहते हो? क्या उससे प्रचार चाहते हो? अरे, क्यों चाहते हो कि जिसके मन में फ़क़ीरी समाई है वह कुनबेदार बना रहकर बस श्रमिक-वर्ग की भलाई चाहनेवाला साहित्य लिखे? श्रमिक और मज़दूर वर्ग को साइन्स के द्वारा, इल्म के द्वारा, प्रस्ताव के द्वारा नहीं जाना जायगा; प्रेम के द्वारा उसे जानना होगा और प्रेम के द्वारा पाना होगा। और जब हम यह करने बढ़ेंगे, तो देखेंगे कि हमें उन्हीं जैसा बल्कि उनसे भी निरीह स्वयं बन जाना है। फिर हमें कहाँ फ़ुरसत रहेगी कि हम बहुत बातें करें? अरे, वैसे फ़क़ीर की फ़क़ीरी और इकतारा क्यों छीनते हो? अगर वह नदी के तीर पर साँझ के झुटपुटे में अकेला बैठा कोई गीत गा रहा है, तो उसे गाने दो, छेड़ो मत। उसके इस गीत से किसी मज़दूर का, किसी चरवाहे का बुरा न होगा। होगा तो कुछ भला ही हो जायगा। उसको उस निर्जनता से उखाड़-कर कोलाहलाकुल भीड़ में बलात् बिठाने से मत समझो कि तुम किसी का भला कर रहे हो।

व्यक्ति को वेदना की दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने दो, जिससे कि लोगों के छोटे-छोटे दिल क़ैद से मुक्ति पायें और प्रेम से भरकर वे अनन्त शून्य की ओर उठें।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखें, क्या न लिखें। कुछ लोग इसको साफ़ जानते हैं; पर मेरी समझ तो कुंठित होकर रह जाती है। मैं अपने से पूछता रहता हूँ कि सत्य कहाँ नहीं है? क्या है जो परमात्मा से शून्य है? क्या परमात्मा अखिल-व्यापी नहीं है? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यों न पालूँ? भागूँ किसकी ओर? क्या किसी वस्तु विशेष में वह सत्य इतनी अधिकता से है कि वह दूसरे में रह ही न जाय? ऐसा नहीं है। अतः निषिद्ध कुछ भी नहीं है। निषिद्ध हमारा दम्भ है, निषिद्ध हमारा अहंकार है, निषिद्ध हमारी आसक्ति है। पाप कहीं बाहर नहीं है, वह भीतर है। उस पाप को लेकर हम सुन्दर को वीभत्स बना सकते हैं और भीतर के प्रकाश के सहारे हम घृण्य में सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं। एक बार दिल्ली की गलियों में आँख के सामने एक अजब दृश्य आ गया। देखता हूँ कि एक लड़की है। बेगाना चली जा रही है। पागल है, अठारह-बीस वर्षों की होगी। सिर के बाल कटे हैं। नाक से द्रव बह रहा है। काली है, अपरूप उसका रूप है। हाथ और बदन में कीच लगी है। मुँह से लार टपक रही है। वह बिल्कुल नग्न है। मैंने उसे देखा, और मन मिचला आया। अपने ऊपर से काबू मेरा उठ जाने

लगा। मैंने लगभग अपनी आँखें मींच लीं और झटपट रास्ता काटकर मैं निकल गया। मेरा मन ग्लानि से भर आया था। कुछ भीतर बेहद खीझ थी, त्रास था। जी घिन से खिन्न था। काफी देर तक मेरे मन पर वह खीज छाई रही; किन्तु स्वस्थ होने के बाद मैंने सोचा:-और अब भी सोचता हूँ कि क्या वह मेरी तुच्छता न थी? इस भाँति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवता को पाकर स्वयं कन्नी काटकर बच निकलना होगा क्या? मैं कल्पना करता हूँ कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते, तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते? वे भी क्या आँख बचाकर भाग जाते? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी भी वैसा नहीं करते। शायद वे उस कन्या के सिर पर हाथ रखकर कहते—आओ बेटा चलो। मुँह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपड़ा है, इसे पहिन लो। वे महात्मा, मुझे निश्चय है, और भी विशेषता पूर्वक उस पीड़िता बाला को अपने अन्तस्थ स-करुण प्रेम का दान देते।

पर नग्नता हमारे लिए तो अश्लीलता है न? सत्य हमारे लिए भयंकर है, जो गहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह वीभत्स। अरे, यह क्या इसीलिए नहीं है, कि हम अपूर्ण हैं। अपनी छोटी-मोटी आसक्तियों में बँधे हुए हैं। हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी हैं। मैंने कहा, अनधिकारी। यह अधिकार का प्रश्न बड़ा है। हम अपने साथ झूठे न बनें। अपने को बहकाने से भला न होगा। सत्य की ओट थामकर हम अपना और पर का हित नहीं साध सकते। हम अपनी जगह और अपने अधिकार को अवश्य पहचानें। अपनी मर्यादा लाँघें नहीं। हठ पूर्वक सूर्य को देखने से हम अन्धे ही बनेंगे; पर विना सूर्य की सहायता के भी हम देख नहीं सकते, यह भी हम सदा याद रक्खें। हम जान लें कि जहाँ देखने से हमारी आँखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं, वहाँ देखने से बचना यद्यपि हितकर तो है; फिर भी वहाँ ज्योति वही सत्य की है और हम शनैः-शनैः अधिकाधिक सत्य के सम्मुख होने का अभ्यास करते चलें।

मराठी कथा की मनो-धारा

श्री प्रभाकर माचवे

आजकल तो किसी भी राष्ट्र या समाज के साहित्य का मनोगुण सरलता से पहचानना हो तो एक सुन्दर उपाय हाथ लग गया है। अति पुरातन (Classical) काल में नाटक ; मध्य-युग में कविता और नये ज़माने में कथा ही वह साधन है। किसी भी राष्ट्र या समाज के साहित्य के प्रमुख कथाकारों की प्रतिनिधि-कथाएँ पढ़ लो और उस पारदर्शी, सहजरम्य सतह में से उस राष्ट्र या समाज के अन्तराल की तले की मनोवृत्ति, उसमें होने वाली घट-बढ़ आसानी से पहचान लो। और इसी पैमाने से हम गोर्की-चेकॉफ पढ़कर कह डालते हैं कि जीवन की ज्वाला से बहुत नज़दीक झुलसता हुआ-सा, सादगी से अलंकृत रशियन साहित्य और समाज चल रहा है ; और वह विध्वंसवादी (Nihilist) भी है। या मोपाँसा-अनातोले पढ़कर हम कह सकते हैं, कि यह उन लोगों का साहित्य है, जो जुआ खेलते हुए सुबह चार बजे तक पेरिस के होटल में जगे हों, जिनकी आँखों में आधी रात तक पी हुई शराब की ख़ुमारी और आँखों के सामने किसी सुगन्धिमय नशीली सिगरेट का धुआँ रम्य दिवा-स्वप्न निर्माण कर रहा हो, जिनके मन के एक सतह के पीछे अभी ड्यूमा की साहसिक कहानियों के चक्रव्यूह सुप्त पड़े हों, जो विलास से विभूषित, वास्तव को तलाक़ देकर चलनेवाले हो वह फ्रान्स का साहित्य है। और ओहेन्री-वॅलेस पढ़कर यदि हम बिना किसी हिचक के कह दें कि जो बाहरी टीम-टाम की व्यवस्थितता से ओत-प्रोत, शिष्टाचारों से आविष्ट, जिसके कुनकुने दिल के बहुत अंदर जाकर मरियम के पवित्र नाम के साथ धार्मिक शहादत का एक दाग़ और ठंडे दिमाग़ में सदैव पार्लमेंट की गरम वक्तृताओं से जनित एक पेचीली, समस्यात्मक, क्लृप्ति, जिसके रग-रग में विलियम शेक्सपीयर के लिए एक जन्म-जात श्रद्धा और शॉ जैसे सनकियों, गोलडस्मिथ जैसे अष्टावक्रों और ऐसे ही दूसरे व्यंगों को सहिष्णुता से ढँक सकने वाला जो ऊर्जस्वल और जाज्वल्य राष्ट्राभिमान भरा हुआ है वह है आंग्ल-सभ्यता-साहित्य-समाज का प्रतीक, तो अयुक्त न होगा। इस तरह हम कहानियों के सहारे जैसे और-और राष्ट्रों की आत्मा चीन्ह पाते हैं, वैसे ही हिन्दुस्तान के प्रान्तीय साहित्यों की मनोभूमि को हम क्यों नहीं देख सकते। शरत्बाबू या रवीन्द्र की एक-एक कहानी पढ़कर हम ज्यों कह दें कि बंगाली साहित्य भाव-प्रधान है। या धूमकेतु या रमणलाल देसाई की नवलिकाओं को लेकर हम गुजराती साहित्य की ग्राम्य-जीवनाभिमानी घरेलूपन और सरल मोहनी का पता

लगा लेते हैं, वैसे ही इस लेख में मराठी कथा का विवेचन कर उसके अंतरंग में बहनेवाली मनोधारा का हम अनुसंधान करेंगे। हिन्दी के लिए तो कौन कहे, वही जो हिन्दी से दूर या तटस्थ हो, मैं वह नहीं हूँ; इसलिए मैं वह नहीं कर पाता। और हिन्दी के साथ एक दिक्क़त यह भी है कि भौगोलिक सीमा-परिमिति जैसे उसे नहीं वैसे ही मनोभूमि की एक सूत्रता का भी अभाव उसमें है, यह कहना कठोर तो न होगा।

तो जैसे दूसरे प्रान्तों की भाषाओं और साहित्यों पर आंग्ल शिक्षण के कारण या आंग्ल शासन के कारण आंग्लात्मक प्रभाव, बीसवीं सदी की शुरूआत ही से साफ़ झलकता है, वैसे ही महाराष्ट्र पर भी हुआ या यों कहें कि नवाबों की यू० पी० और रजवाड़ों के मध्यभारत जैसे समुद्र से दूर, हिन्दुस्तान के भीतरी सम्पुट-प्रांतों पर जितना शीघ्र-प्रभाव नहीं हुआ, उतना समुद्रतट के पासवाले बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र और गुजरात के साहित्य पर पश्चिम का रंग जल्दी चढ़ गया। और इस रंगत की या यों कहें कि बू की प्रगति सन् चौदह तक उतनी स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं हुई थी, जितनी महायुद्ध के बाद भारतीय जीवन में वह उतर आई। अंग्रेजी रंगत के साथ भारतीय जीवन और संस्कृत में सभी पुरातन-सम्मत, रूढ़ और परम्परागत बातों के प्रति 'ऐसा क्यों?' का विवेक-पूर्ण सवाल राष्ट्र की मनोमय आत्मा में खड़ा हुआ और जिनकी लेखनी में विद्रोह की जवानी छलकती थी। उन्होंने उसी सवाल को हल करना शुरू किया। अंग्रेज़ और अंग्रेज़ी सभ्यता-साहित्य के साथ सभी बातें अच्छी ही नहीं आईं; पर अनुकरण अच्छाइयों से अधिक जल्दी बुराइयों का होता है और मराठी कथा भी उससे न बची।

वैसे तो पेशवाओं के ज़माने की अर्द्ध-फारसी, अर्द्ध-महाराष्ट्री भाषा में लिखी गई 'बखरों' के ऐतिहासिक प्रसंग-वर्णनों से ही मराठी कथा का शैशव प्रारम्भ होता है; परन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त में कविता भी कुछ सँभली, नाटक ने भी कुछ होश सँभाला तभी कथा ने भी अपना तुतलाना छोड़ा और जैसे अक्सर शुरू-आत हर प्रान्तीय भारतीय साहित्य के कथा-साहित्य में हुई है, वैसे ही अनुवादों से कथा का रूप निश्चित-निर्धारित होता जाने लगा। अनुवाद अंग्रेज़ी से हुए, संस्कृत से हुए, बंगला से भी हुए; पर महाराष्ट्र ऐसे साहित्यिक आदान में अंग्रेज़ी के साथ जितनी मुक्तता के साथ बरतता है, वैसे न जाने क्यों अपनी प्रान्तीय भाषा-भगिनियों के साथ वह अनुदार ही रहा है। विशेषतः हिन्दी के विषय में तो वह अभी भी उतना दर्यादिल नहीं, जितना कि होना चाहिए। साहित्य के नाते, एक तिलक और एक ठाकुर को लेकर महाराष्ट्र और बंगाल जैसे आत्म-सन्तुष्ट से हो गये हैं; वे वह पड़ोसी होने का धर्म नहीं महसूस करते, जितना कि हर भाषा के साहित्य के स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए लाज़मी है। जो कलाकार हैं, वे भाषा-बन्धनों से ऊपर हैं; अतएव वे इस प्रश्न को सोचते ही नहीं; मगर जो साहित्य सिरजनेवाले न होकर साहित्य-

परोसनेवाले मात्र हैं, उनके दृष्टि-कोण ऐसी ही मण्डूक-परिसीमाओं (Frog-perspectives) से प्रान्तीयता के अनावश्यक प्यार से आविष्ट हैं। प्रामाणिक साहित्येतिहास के विद्यार्थी के नाते सच्ची कथा हरिभाऊ आपटे के साथ शुरू होती है। मराठी में क्या उपन्यास और क्या कहानी के लिए भी उनका कार्य महान् है। समाज-सुधार, मनोरञ्जन, ऐतिहासिक कथा-घटनाओं के वर्णन डिकेन्स, स्कॉट, रेनॉल्ड्स के विक्टोरियन ललित-साहित्य (Fiction) के प्रभावों से अनुरञ्जित वस्तुएँ उन्होंने खूब लोकप्रियता कमा कर लिखी। वे महाराष्ट्र के स्कॉट माने जाते हैं; पर उनकी शैली में वह ओज नहीं था, जो ज़माने की लकीर खींचे। उनके साथवाली पीढ़ी में अनुवादों की भी ख़ासी बाढ़ रही और भारत-गौरव-ग्रन्थमाला और सुरस-वाङ्मय-ग्रन्थमाला के वे बीसवीं सदी के प्रथम-चरण के प्रकाशन के दिन दातार के रेनाल्ड्स की नाविलों के रूपान्तरों, प्रभाकर भिसे जी के बंकिम बाबू के अनुवादों से भरपूर हैं। आज से करीब एक तप पहले प्रेमचन्द के एक उपन्यास का अनुवाद भी 'गुण-गौरव' के नाम से दो खण्ड में श्री शास्त्री ने छपवाया; पर कहानी साहित्य में श्री गुर्जर जैसे लेखक चित्ताकर्षक और लम्बी लघु-कथाओं के लेखक के नाते खूब चमके और हास्य की कहानियाँ भी काफ़ी लिखी गई; पर महायुद्ध के बाद क्या कहानी और क्या उपन्यास के क्षेत्र में असली आधुनिकत्व (Modernism) शुरू होता है। और आगे की पंक्तियों में अगणित प्रतिभाशाली छोटे-बड़े लेखकों के नाम और उनके मास्टरपीसेज़ की ख़ानाशुमारी करने की अपेक्षा आधुनिक कथा-साहित्य के अन्तरंग में कैसी मनोधारा प्रवाहित हो रही हैं, उनका रुख़ किस ओर है और हिन्दी के कथा-साहित्य को उससे क्या सीख लेने योग्य है, इसी बात पर निष्पक्ष विचार लिखे जावेंगे।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से मराठी में हिन्दी इतनी ज़ोरों की रमण्यासधारा (रोमैंटीसिज्म) किंबहुना कल्पनाजीवी चीज़ें नहीं उपजीं। यही कारण है कि गद्य-काव्य नामक साहित्य-पुकार बंगालियों से और विशेषतः रविबाबू के अँग्रेज़ी गद्य-कवितानुवादों को नोबुल-पुरस्कार मिलने के बाद, हिन्दी और कोमलांगी गुजराती ने अपनाया, कष्टजीवी महाराष्ट्र में अभी वह चलता सिक्का नहीं बना है। एक भाषण (अँग्रेजी के Monologue) के तौर पर 'नाट्य-छटा' नामक वस्तु, गद्य काव्य के काफ़ी नज़दीक आ जाती है; पर 'प्रसाद' और रायकृष्णदास की लाक्षणिक कथाओं से रंजित जो हिन्दी-रुचि है उसे इस जोड़ का भाव-प्रवण गल्प-साहित्य मराठी में न मिलेगा। इसके कारण संक्षेप में जीवन की आर्थिक व इतर कठिनाइयाँ, महाराष्ट्र की बुद्धि प्रधानता, परिस्थिति में अँग्रेज़ी प्रभाव और तज्जन्य वस्तुवादी वास्तववाद की ओर ज़बर्दस्त आकर्षण आदि कहे जा सकते हैं। एक शब्द में महाराष्ट्रीय कथा-लेखक की लेखनी पर जीवन जितनी प्रखरता और सम्पूर्णता के साथ उतरा है, भारतीय-साहित्य की इतर भाषा के साहित्यकारों पर, कुछ धृष्टता न होगी तो कहा

जा सकता है, वह अभी नहीं उतर पाया है। मार्क्स और फ्राइड के दो भूत तो अधुना लेखनी के सिर पर इस तरह मँडरा रहे हैं कि जो कथा-लेखक उठता है वह आर्थिक और यौन समस्याओं के सिवा और किसी विषय को हाथ ही नहीं लगाता। इन दोनों ही समस्याओं पर एक-एक कर चर्चा करें।

महाराष्ट्र की आर्थिक विपन्नता और बौद्धिक संपन्नता का कोई सम-प्रमाण अनुपात न होने से मराठी-साहित्य को इस अर्थ-समस्या ने दो तरह से घर दबाया। कुछ तो वे हैं जो नवीन समाज रचना के सपने देखते हुए अपनी कथाओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समाजवाद का आंदोलन-सा चलाये बैठे हैं—खांडेकर, बांगल और दूसरे छोटे-मोटे कथाकार इसी श्रेणी में गिनाये जा सकते हैं। राष्ट्र महानुभाव लालजी पेंडसेजी ने तो साहित्य और समाज-जीवन नामक ग्रंथ लिखकर पुराने मराठी-साहित्य में भी इसी कॉर्ल-मार्क्स के लाल-भूतों का नाच देखा है; पर इस सार्वजनिक आर्थिक समस्या, वर्ग-कलह की समस्याओं से अधिक बुलन्द वैयक्तिक आर्थिक समस्या है। विभावरी ने अपने पहले कथा-संग्रह में स्त्रियों की आर्थिक परावलम्बी दशा का बड़ा करुण-चित्र खींचा था और कुछ वे कलम के पंडे हैं, जो साहित्य-सेवा-धर्म के नाम पर अपनी जेब फुलाने में लगे हैं, भद्दी लोकरुचि को मादक और अस्वास्थ्यकर खाद्य प्रदान करते हैं। और यहीं उस महान् मनोवैज्ञानिक फ्राइड की प्रतिक्रियामयी मनोभावनाओं के उसूल का उलटा उपयोग शुरू होता है।

प्रो० फड़के ने अपने नये उपन्यास 'आशा' में यही प्रतिपादित किया, कि स्त्री पुरुष की न केवल आर्थिक गुलाम है; पर यह मातृत्व का बोझ भी उसके परम्परागत पुरुष-दास्य ही का परिणाम समझो। साहित्य में लोकाभिरुचि की नग्नप्रियता को उभाड़ने की ओट लेकर, रूसी पद्धति के नाम से जैसा है तैसा (Naturalistic) साहित्य देने का परिणाम हमारे राष्ट्र की दुर्बल शिराओं में इष्ट न होगा। ज़ोला, बालज़ाक, बाड़ली वेयर या कुप्रीन, भारतीय संस्कृति में कभी न पनपने देने योग्य प्राणी हैं। वासना का विषय कथा से नहीं सुलझ सकता, उसके लिए सशास्त्र प्रचार, ठोस कार्य की आवश्यकता होती है। और लिखने-लिखने में भी फर्क़ होता है, जैसे समस्या एक ही है वेश्याओं की; पर 'सेवा-सदन' और 'दिल्ली का कलंक' ये दो अलग-अलग तरीक़े हैं। मनोरंजक कथासूत्र और अपने प्रान्तीय प्रकृति सौंदर्य के उद्भासक के नाते सर देसाई एक अच्छे कथाकार हैं, य० गो० जोशी अपने घरेलू विषयों पर बड़े अजीब नर्म-विनोदमय व्यंग्य शैली के लेखक के नाते प्रसिद्ध हैं। स्त्री-कथा लेखिकाएँ बहुत-सी हैं; पर शांत-विचार लेकर लिखनेवालों की संख्या की अपेक्षा कॉलेज की विदेशी पढ़ाई की उच्छृंखल विचारधारा लेकर प्रेम-वासना का तंतु-तंतु विश्लेषण करते बैठनेवाली अधिक हैं। नवनीतिवाद के नाम पर जो आन्दोलन इधर मराठी-साहित्य में चल पड़ा है, वह यदि क्रियात्मक हो, तो अति उपयोगी हो सकता है; पर मात्र-विनाश प्रवृत्ति से वह

त्याज्य ही समझना चाहिए। हिन्दी को यदि यथार्थवाद मराठी से सीखना हो तो वह जीवन से संलग्न ज़रूर हो ; पर जीवन के फोड़े से ही नहीं। पर हिन्दी को, कथा के लिहाज में मराठी से ज़्यादा सीखने की चीज़ अभिव्यक्ति है। आजकल मराठी में बड़ी मुश्किल से एक-डेढ़ पृष्ठों की कहानियाँ निकलने लगी हैं ; पर वे उतनी ही विचार प्रवर्तक होती हैं, जितने उबा देनेवाले लम्बे-लम्बे क़िस्से ! यह बन्दूकों की जगह पिस्तौल इस्तेमाल करने की वृत्ति न केवल ज़माने की बढ़ती हुई समय के मितव्यय की माँग की दृष्टि से पर सुभीते की दृष्टि से भी बड़ी उपादेय समझो। रीति (Technique और Diction) के लिहाज़ में मराठी के किसी थर्डक्लास साप्ताहिक की कहानी भी हिन्दी की किसी मासिक-पत्रिका की कहानी से अधिक रोचक और चुटीली होगी। मराठी मौलिकता की सदा की पुजारिन रही है और हिन्दी न जाने कब विम्ब-छाया-प्रभावों को छोड़ अपने आपको चीन्हने की कोशिश करेगी।

संक्षिप्त में, अंग्रेज़ी से सीखी हुई यथार्थ-प्रियता और रूसी कथा की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि मराठी कथा में बड़ी सुन्दरता से उतरी ज़रूर है ; पर उसमें फ्रेंच साहित्य का व्यंगात्मक-बुद्धिवाद (Rationalism) और अमेरिकन बाज़ारू-साहित्य की नग्न उद्दण्डता जो आती जा रही है वह घातक है। संस्कृति को उखाड़ फेंकना बड़ा आसान, बड़ा प्यारा लगता है ; पर वह उन्हीं धुरीण क़लम के धनियों को सुहाता है, जो अपनी लेखनी के एक-एक अक्षर पर 'अ-क्षर' ऐसे नये अदब का प्रणयन करना जानते हों। नहीं तो यह जो विद्रोह, पुरानेपन के ख़िलाफ़ जो बुलन्द इनक़लाब मराठी कथा-साहित्य के अन्तर में जगा है, वह सिवा अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारने के कोई मानी नहीं रखता। विदेशी सिद्धान्त हम गुन सकते हैं ; पर अपना नहीं सकते। चूँकि देश विदेश नहीं है ; मगर हिन्दी को ज़रूर मराठी कथा से घरेलूपन और यथार्थवादिता सीखनी होगी, जिसके अभाव से हिन्दी-कथा हिन्दी-भाषी के घर-घर की चीज़ नहीं होने पाती। अस्तु।

कश्मीरी सेब

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दजी

कल शाम को चौक में दो-चार ज़रूरी चीज़ें ख़रीदने गया था। पंजाबी मेवा फ़रोशों की दुकानें रास्ते ही में पड़ती हैं। एक दुकान पर बहुत अच्छे, रंगदार, गुलाबी सेब सजे हुए नज़र आये। जी ललचा उठा। आजकल शिक्षित समाज में विटामिन और प्रोटीन के शब्दों में विचार करने की प्रवृत्ति हो गई है। टमाटो को पहले कोई सेंत में भी न पूछता था। अब टमाटो भोजन का आवश्यक अंग बन गया है। गाजर भी पहले ग़रीबों के पेट भरने की चीज़ थी। अमीर लोग तो उसका हलवा ही खाते थे; मगर अब पता चला है कि गाजर में भी बहुत विटामिन हैं, इसलिए गाजर को भी मेज़ों पर स्थान मिलने लगा है। और सेब के विषय में तो यह कहा जाने लगा है, कि एक सेब रोज़ खाइए तो आपको डॉक्टरों की ज़रूरत न रहेगी। डॉक्टरों से बचने के लिए हम निमकौड़ी तक खाने को तैयार हो सकते हैं। सेब तो रस और स्वाद में अगर आम से बढ़कर नहीं है तो घटकर भी नहीं। हाँ, बनारस के लँगड़े और लखनऊ के दसहरी और बंबई के अल्फ़ांसो की बात दूसरी है। उनके टक्कर का फल तो संसार में दूसरा नहीं है; मगर उनमें विटामिन और प्रोटीन है या नहीं; है तो काफ़ी है या नहीं, इन विषयों पर अभी किसी पच्छिमी डॉक्टर की व्यवस्था देखने में नहीं आई। सेब को यह व्यवस्था मिल चुकी है। अब वह केवल स्वाद की चीज़ नहीं है, उसमें गुण भी है। हमने दूकानदार से मोल-भाव किया और आध सेर सेब माँगे।

दूकानदार ने कहा—बाबू जी, बड़े मज़ेदार सेब आये हैं, ख़ास कश्मीर के। आप ले जायँ, खाकर तबीयत ख़ुश हो जायगी।

मैंने रूमाल निकालकर उसे देते हुए कहा—चुन-चुनकर रखना।

दूकानदार ने तराज़ू उठाई और अपने नौकर से बोला—लौंडे, आध सेर कश्मीरी सेब निकाल ला, चुनकर लाना।

लौंडा चार सेब लाया। दूकानदार ने तौला, एक लिफ़ाफ़े में उन्हें रक्खा और रूमाल में बाँधकर मुझे दे दिया। मैंने चार आने उसके हाथ में रक्खे।

घर आकर लिफ़ाफ़ा ज्यों-का-त्यों रख दिया। रात को सेब या कोई दूसरा फल खाने का क़ायदा नहीं है। फल खाने का समय तो प्रातःकाल है। आज सुबह मुँह-हाथ धोकर जो नाश्ता करने के लिए एक सेब निकाला, तो सड़ा हुआ था। एक रुपये के आकार का छिलका गल गया था। समझा रात को दूकानदार ने देखा न

होगा। दूसरा निकाला ; मगर यह आधा सड़ा हुआ था। अब सन्देह हुआ, दूकानदार ने मुझे धोखा तो नहीं दिया है? तीसरा सेब निकाला। वह सड़ा तो न था ; मगर एक तरफ़ दबकर बिलकुल पिचक गया था। चौथा देखा। वह यों तो बेदाग़ था ; मगर उसमें एक काला सूराख़ था जैसा अक्सर बेरों में होता है। काटा तो भीतर वैसे ही धब्बे जैसे किड़हे बेर में होते हैं। एक सेब भी खाने लायक़ नहीं। चार आने पैसों का तो इतना ग़म न हुआ जितना समाज के इस चारित्रिक-पतन का। दूकानदार ने जान-बूझकर मेरे साथ धोखेबाज़ी का व्यवहार किया। एक सेब सड़ा हुआ होता, तो मैं उसको क्षमा के योग्य समझता। सोचता, उसकी निगाह न पड़ी होगी ; मगर चार के चारों ख़राब निकल जायँ यह तो साफ़ धोखा है। मगर इस धोखे में मेरा भी सहयोग था। मेरा उसके हाथ में रूमाल रख देना मानो उसे धोखा देने की प्रेरणा थी। उसने भाँप लिया कि यह महाशय अपनी आँखों से काम लेनेवाले जीव नहीं हैं और न इतने चौकस हैं कि घर से लौटाने आवें। आदमी बेईमानी तभी करता है, जब उसे अवसर मिलता है। बेईमानी का अवसर देना, चाहे वह अपने ढीलेपन से हो या सहज विश्वास से, बेईमानी में सहयोग देना है। पढ़े-लिखे बाबुओं और कर्मचारियों पर तो अब कोई विश्वास नहीं करता। किसी थाने या कचहरी या म्युनिसिपैलटी में चले जाइए। आपकी ऐसी दुर्गत होगी कि आप बड़ी-से-बड़ी हानि उठाकर भी उधर न जायँगे। व्यापारियों की साख अभी तक बनी हुई थी। यों तौल में चाहे छटाँक आध छटाँक कस लें ; लेकिन आप उन्हें पाँच की जगह भूल से दस का नोट दे आते थे तो आपको घबड़ाने की कोई ज़रूरत न थी। आपके रुपये सुरक्षित थे। मुझे याद है, एक बार मैंने मुहर्रम के मेले में एक ख़ोंचेवाले से एक पैसे की रेवड़ियाँ ली थीं और पैसे की जगह अठन्नी दे आया था। घर आकर जब अपनी भूल मालूम हुई तो ख़ोंचेवाले के पास दौड़ा गया। आशा नहीं थी कि वह अठन्नी लौटाएगा ; लेकिन उसने प्रसन्नचित्त से अठन्नी लौटा दी और उलटे मुझसे क्षमा माँगी। और यहाँ कश्मीरी सेब के नाम से सड़े हुए सेब बेचे जाते हैं। मुझे आशा है, पाठक बाज़ार में जाकर मेरी तरह आँखें न बन्द कर लिया करें, नहीं उन्हें भी कश्मीरी सेब ही मिलेंगे!

बंग-साहित्याकाश में गीति-काव्य का अरुणोदय

श्री रूपनारायण त्रिपाठी

जिस प्रकार, पहले आकाश में आश्विन तारों की प्रथम-किरणें फूटती हैं, तदनन्तर उषा अपने स्वर्णिम वैभव-विलास के साथ अनुगमन करती है, उसी प्रकार बंग-साहित्य-क्षितिज में दो दिव्य तारे मन्द रागिनी सुनाते हुए उदय हुए; उनके गीत सभी स्वर्गीय गुणों से सम्पन्न थे। इन्होंने अपने गीतों द्वारा प्रेम-देव के आगमन की सूचना दी, यद्यपि यह कार्य अत्यन्त अविदित तथा प्रच्छन्न रूप से हुआ, तो भी इसका प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि एक ही सदी में वृन्दावन-विहारी भगवान् कृष्ण, मानो चण्डीदास और विद्यापति के गीतों का मधुर-रस-पान करने के लिए श्रीगौरांग होकर अवतरित हुए। नवद्वीप के गौरांग देव साक्षात् प्रेम के अवतार थे।

ये दोनों कवि सदैव से ही सम्मानित होते आये हैं। इनका आदर केवल पिछले खेवे के गीतिकारों ने ही नहीं किया, प्रत्युत अनेक सन्त, दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा समालोचकों ने भी किया। ये सभी के श्रद्धा-भाजन होते आये हैं; इनके गीत भौगोलिक-सीमा को पार कर यूरोपीय विद्वानों के भी हृदय-हार बन गये। उन लोगों ने मुक्त-कण्ठ से इनकी प्रशंसा की है।

कवि गोविन्ददास ने अपनी प्रशस्ति में इनकी महत्ता का वर्णन किया है। गोविन्ददास चैतन्य स्वामी के समकालीन थे। वे स्वयं एक उच्चश्रेणी के कवि थे। उनके वचन से इस बात पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है, कि परवर्ती कवियों पर विद्यापति और चण्डीदास का क्या प्रभाव पड़ा था। गोविन्ददास की प्रतिभा को इन दोनों कवियों से आध्यात्मिक प्रेरणा मिली थी।

गोविन्ददास चण्डीदास की वन्दना में कहते हैं—

चण्डीदास चरण, चिन्तामणि गण, शिर करि भूषा,
शरणागत जने हीन अकिञ्चने, करुणा करि पूरव आशा;
दुहुक चरित बदन भरि गाओब रसिक भगत गण पाश,
क्षम अपराध, साध मझु पूरह कह दीन गोविन्ददास।

भावार्थ—हे चण्डीदास, मैं तुम्हारे चिन्तामणि-रूपी चरणों से अपने मस्तक को भूषित करता हूँ। शरणागत अकिञ्चन जन की आशा तुम्हारी करुणा से

ही पूर्ण होगी। रसिक भक्तों की मण्डली में मैं युगल प्रेमी श्रीराधा और कृष्ण का गुण-कीर्तन करना चाहता हूँ। दीन गोविन्ददास की इच्छा पूरी करो और उसे क्षमा करो।

गोविन्ददास ने विद्यापति की भी प्रशस्ति निम्नाङ्कित शब्दों में लिखी है—

'बाक गीते जगत चित चोरायल'

अर्थात्—जिसने अपने गीतों द्वारा सारे संसार को मोहित कर लिया। चैतन्य स्वामी, जिनकी प्रतिष्ठा वैष्णव-जन अवतारिक के रूप में करते हैं, चण्डीदास और विद्यापति के गीत गाते-गाते बेसुध हो जाते थे। इन गीतों से वे समाधि-लोक में पहुँच जाते थे। यद्यपि वे चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे, तथापि बङ्गाल के भावनात्मक-जीवन पर उनका प्रभाव अब तक पड़ता जा रहा है।

स्वर्गीय रमेशचन्द्रदत्त ने अपने बँगला-साहित्य के इतिहास में लिखा है—'विद्यापति और चण्डीदास कैसे मोहक कवि थे, वे बँगला-साहित्य के आकाश में प्रथम तारे थे। बंगाल में अनन्त काल तक उनके गीत गाये जाएँगे और उनकी स्मृति सदैव हरी रहेगी।'

डॉक्टर डी० सी० सेन ने बँगला के साहित्य में अनुसंधान केवल इस कारण किया, कि वे चण्डीदास के काव्य-गत गुणों पर मुग्ध हो चुके थे। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि इन युगल कवियों की कृतियों में अवश्य ही विचित्र तथा मनोमुग्धकारी विशेषताएँ मौजूद हैं, जिनके कारण उनका आदर परम्परा से होता आया है। इनका काव्य-कीर्तन बाजों की वाद्य-ध्वनि में घुलकर और भी आकर्षक हो जाता है। उनकी स्वर-माधुरी में आत्मा शराबोर हो जाती है और श्रोता के अन्तस्तल में आध्यात्मिकता का मानस लहरा उठता है।

इसके पहले कि हम इन युगल गायकों की परीक्षा करें, उनकी जीवन-रेखा खींच देना अधिक उचित होगा; क्योंकि, उनकी जीवन-स्थिति से परिचित हो जाने पर हम अधिक संवेदनाशील हो सकेंगे, और उनके गुणों की परख कर सकेंगे।

चण्डीदास और सहजिया सम्प्रदाय

चण्डीदास सन् १४१८ ई० में बीरभूमि ज़िले के एक गाँव में उत्पन्न हुए। ये मातृ-पितृ-विहीन थे, अतएव उदार लोगों ने इन्हें नानपुर में बासुली देवी के मन्दिर का पुजारी बना दिया। परम्परा से ऐसा प्रसिद्ध है कि इसी देवी ने कवि को स्वप्न में प्रतिभादान किया। चण्डीदास तृण-निर्मित झोंपड़े में मन्दिर के पास ही रहते थे। आसपास प्रकृति का मनोरम राज्य फैला हुआ था। चण्डीदास का हृदय इस मनोहर वातावरण के सौंदर्यों से ओत-प्रोत हो गया। बासुली देवी के आदेशानुसार चण्डीदास ने सहजिया पंथ ग्रहण किया। इस पंथ के अनुसार मनुष्य को स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक मिलन में आनन्दानुभव करना चाहिए और उसकी परमा-

वधि कर देनी चाहिए। इस प्रकार लौकिक प्रेम को पारलौकिक प्रेम में परिवर्तित कर देना चाहिए, इस प्रकार की प्रेम-परिस्थिति से भक्त मोक्ष प्राप्त करता है। इस पंथ में विघ्न-बाधाओं की कमी नहीं है। मोक्ष का मार्ग अत्यन्त दूर है; इस संप्रदाय का पतन, विषय-वासनाओं के कारण पहले ही हो चुका था। चंडीदास तो इसे पुनर्जीवन देने के लिए देवी द्वारा निर्देशित हुए थे। कवि ने इसे अवश्य ही नव-जीवन दिया और इसे आध्यात्मिकता की पुरानी सतह पर पहुँचा दिया। इनकी मृत्यु पास ही के एक गाँव में घर की छत गिर जाने से हो गई। मृत्यु के समय वे अपने गीत गा रहे थे। इनकी सहजिया-संगिनी रामी थी।

विद्यापति

विद्यापति का जन्म चौदहवीं सदी के अंत में, मिथिला के एक प्रसिद्ध परिवार में हुआ। उनके जन्म दिन की ठीक तारीख़ नहीं मालूम है। वे लगभग एक सौ वर्षों तक जीवित रहे। मिथिला-नरेश रूपनारायणसिंह के आश्रय में उन्होंने अनेक संस्कृत के ग्रन्थों की रचना की। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी।

विद्यापति और चंडीदास का नाम बहुधा साथ-साथ लिया जाता है। इसका कोई विशेष कारण नहीं है। फिर भी यह बात निम्नाङ्कित कारणों से विचारणीय है—पहले तो वे समसामयिक थे। दूसरे वे दोनों ही महान् कवि थे, जिनकी समता किसी प्राचीन या अर्वाचीन कवि ने न कर पाई। जो कुछ भी कारण हो, उनके नाम-स्मरण से हमारे सामने गीत-काव्य के उत्तमोत्तम गुणों की एक साथ ही संश्लिष्टि होती है।

विद्यापति का माधुर्य, संगीत, रंजना, और दिव्यता चंडीदास के विचार-गाम्भीर्य, करुणा, सरलता और आध्यात्मिकता से मिलकर, पाठकों को भावोच्चता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है।

गीति-काव्य की विशेषताएँ

इसके पहले कि इन कवियों की कविताओं का रसास्वादन किया जाय, गीति-काव्य का विशेष रूप से तथा कविता का साधारण रूप से परिचयात्मक चित्रांकन करना उत्तम होगा। कविता की परिभाषा करना सरल काम नहीं है। फिर भी चाहे हम कविता का विवरण न दे सकें; पर उसे हम पहचानते अवश्य हैं। मिल्टन ने कविता के तीन आवश्यक गुण बतलाये हैं, अर्थात् सरलता, मनोमुग्धकारिता, और भाव-प्रवणता। इन तीनों में भाव-प्रवणता अधिक आवश्यक है। वर्डस्वर्थ ने भाव-प्रवणता का अर्थ करते हुए लिखा है—'संवेदना का स्वाभाविक प्रवाह'। हिन्दू अलंकारिकों ने तो कहा है कि रस ही काव्य की आत्मा है, और यह रस भावों का घनीभूत उद्रेक ही है; किन्तु काव्य के शरीर का भी कम महत्व नहीं है। तत्पश्चात् वर्ण्य-विषय भी कवि-प्रतिभा के उत्कर्ष में अधिक सहायक होता

है। उत्तर-रामचरित में रोते हुए वियोगी राम को देखकर पत्थर तक पिघल जाते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड ने वर्ण्य-विषय को ही प्रधानता दी है। उनकी राय में तो जितना ही विषय उत्तम होगा, उतनी ही कविता आकर्षक तथा मोहक होगी।

काव्य में सरलता का अर्थ होता है, कवि के हृदय की सरलता। कवि के हृदय में शिशु की-सी सरलता तथा वस्तु-ज्ञान की भोली लालसा होनी चाहिए; परन्तु उसकी दृष्टि इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह मानव-हृदय के गूढ़तम कोने में प्रवेश कर सके। कवि के लिए मानस-पुरुष, वाह्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर होता है।

इन गुणों के अतिरिक्त कविता में सौष्ठवसंयुत शब्दगुंफन भी अत्यावश्यक होता है। यही कविता का वाह्य शरीर होता है। फिर भी शब्दों के लिए एक वंशी चाहिए। यह वंशी छन्दों की है। छन्दों की वंशी से निकल कर शब्दसमूह एक अपूर्व, सुंदर और मधुर स्वर लहरी में परिवर्तित हो जाता है। भिन्न-भिन्न छंद भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होते हैं। छंद में लय की स्थिति प्राण के तुल्य है।

गीति-काव्यों में लय पर अधिक ध्यान दिया जाता है, क्योंकि ये काव्य गाने के लिए बनाये जाते हैं, इसलिए लय ही इनकी पूर्णता की माप है। दूसरा गुण गीति-काव्य का है अन्तर्जगत् से संबंध। कवि अपनी ही आशाओं, चिन्ताओं और आनंद के गीत गाता है। वह स्वयं अपना विषय है। इसके विरुद्ध नाटक तथा महाकाव्यों में वर्ण्य विषय, कवि के अतिरिक्त कोई इतर पुरुष वा देवता होता है। प्राचीन काल में गीति-काव्यों का विषय धार्मिक हुआ करता था, जैसे सामवेद की ऋचाएँ जो अनेक देवताओं के ऊपर लिखी गई हैं।

चंडीदास और विद्यापति का विषय

इनके विषय थे, भगवान् कृष्ण और भगवती राधिका। इन्होंने अनेक इतर विषयों पर भी रचना की; किन्तु इनका मान नंद-नंदन और वृषभानुलली के गुण-गान पर ही अवलम्बित है। प्रेम की नाना अवस्थाओं के चित्रण में इन लोगों ने प्रेम का दार्शनिक विश्लेषण किया है। आधुनिकों की राय में इनके कुछ गीत भद्दे तथा अश्लील हैं; किन्तु उनका अपना कुछ और अर्थ है।

डॉक्टर ग्रियर्सन ने विषयानुसार इन गीतों का वर्गीकरण किया है। उदाहरणार्थ पहले ही वर्ग को ले लीजिए। इसमें ईश्वर के लिए आत्मा की उत्कट-कामना का वर्णन है। ईश्वर के लिए आत्म-वियोग का सजल गान गाया गया है। इस प्रेम के रूपक में राधा आत्मा मानी गई है, ध्यानावस्थित उपासक दूती और भगवान् कृष्ण परम प्रेमास्पद। विद्यापति के सुन्दर गीत भगवद्भक्त अधिकतर गाते हैं; उनका हिन्दुओं में उतना ही प्रचार है जितना सालोमन के गीतों का पादरियों में।

विद्यापति की पदावली को, बंगाल के भक्त-सुधारक चैतन्यदेव ने विशेष रूप से अपनाया, और उनके द्वारा यह पदावली बंगाल के घर-घर में ऐसी फैल गई, जैसे क्रिस्तानों में बाइबिल।

विद्यापति का काव्य-वैचित्र्य

विद्यापति बहुत ही सफल कलाकार हैं। इनके कलात्मक साधन विशेष महत्वपूर्ण हैं। प्रौढ़ भाषा के साथ-ही-साथ वे अन्यान्य उपयोगी सामग्रियों से सम्पन्न हैं। उनकी कल्पना बड़ी ऊँची है। उसका प्रधान गुण है उत्पादकता, जिसके सहारे कवि नाना चंचल जीवों की सृष्टि करता है। उनके मनोहर गीत श्रवण-पुटों में अमृत बरसाते हुए, हमारे नेत्रों के सामने, वृन्दावन-निकुञ्ज में सखियों के साथ भगवान् कृष्ण और राधिका का सुस्पष्ट चित्र खींच देते हैं, जिनका रंग बहुत उभरा हुआ, चमकीला तथा टिकाऊ होता है। ये कल्पना-मूर्तियाँ सजीव शरीरधारी की भाँति हिलती-डोलती नज़र आती हैं।

हिन्दू-काव्य-शास्त्रानुसार कविता में नव रस होते हैं; जैसे शृङ्गार, करुण, वीर, वीभत्स, भयानक, हास्य, अद्भुत, रौद्र और शांत। ये नवों रस काव्य और नाटकों में अधिकतर पाये जाते हैं। विद्यापति और चंडीदास की कविता में शृङ्गार-रस प्रधान है, यत्र-तत्र करुण, हास्य और शांत का भी समावेश है। करुण और शांत तो स्वाभाविक गुण हैं।

शृंगारी-भावों की तीन श्रेणियाँ होती हैं। (१) पूर्वराग (२) विरह और (३) मिलन। विरह की दश दशाएँ होती हैं यथा अभिलाषा से लेकर मरण पर्यन्त 'दृङ्मनःसंगसंकल्पः जागर्तिः कृशता रतिः। ह्री-त्यागोन्माद मूर्च्छान्ता इत्यनंग दशा दश।' विद्यापति ने इन नाना अवस्थाओं तथा भावों में अपनी कुशल तूलिका से राधा का मनोहर चित्र अंकित किया है। कहीं उसे हम पनघट पर—जहाँ उसने कृष्ण का प्रथम दर्शन किया था—अपनी मौक्तिक-माला तोड़कर बिखेरती हुई देखते हैं; सखियाँ उस भग्न माला के दानों को बीनने में संलग्न दिखाई पड़ती हैं। कहीं हम राधिका को कृष्ण-वियोग में मरणशय्या पर पड़ी देखते हैं। उसका 'मरिब मरिब सखि निचय मरिब' मृत्यु-गीत अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर आँसूधारों में निर्झर की भाँति झर पड़ता है। यह गीत हमारे कानों में सदा के लिए एक प्रतिध्वनि छोड़ जाता है।

विद्यापति के गीत अलंकारों से अलंकृत हैं। रूपकों और उपमाओं की तो भरमार है। डॉक्टर सेन की राय में कालिदास के बाद उपमा में विद्यापति का ही नम्बर है। ये अलंकार उनके गीतों में उपयुक्त स्थानों में मणियों की नाईं जड़ दिये गये हैं।

सुन्दर अभिव्यंजना, प्रकृति चित्रण, रंग-मिश्रण तथा भावों के प्रदर्शन में शायद ही कोई गीतिकार विद्यापति से बढ़ जायगा।

चण्डीदास का काव्य-वैचित्र्य

चण्डीदास की कविता का प्रथम गुण—जो पाठकों के मन को मोह लेता है—भाषा की सरलता और प्रासादिकता है। इनके गीतों में शायद ही कोई कठिन और अपरिचित शब्द मिलेगा। यद्यपि अलंकारों का अभाव नहीं है, तो भी उनका प्रयत्न-जात गुंफन नहीं हुआ है। इस सरलता में कहीं-कहीं रहस्यमयी भावनाएँ भी मिलती हैं, जिनके कारण एकाध गीत दुरूह हो गये हैं। यदि सहजिया संप्रदाय के सिद्धान्तों को समझ लें, और राधाकृष्ण के प्रेम से पूर्ण-परिचित हों, तो यह दुरूहता बोधगम्य हो जाती है। सरल अभिव्यंजना द्वारा सरल जीवन और प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण कवि ने किया है।

चण्डीदास के गीतों का दूसरा गुण है—संवेदन-शीलता। उनकी अनुभूति बहुत गहरी है। कवि का हृदय अत्यन्त भावुक है, और वह ध्यान-योग का साधक है। उन्होंने प्रेम की प्रत्येक दशाओं का चित्रण बहुत ही सहृदयता तथा स्वाभाविकता के साथ किया है। चण्डीदास के कल्पना-चित्र भी बहुत ही स्वाभाविक उतरे हैं; फिर भी वे विद्यापति के कल्पना-चित्रों से तुलित नहीं हो सकते। इनका भी प्रकृति का चित्रण बहुत ही प्रभावशाली हुआ है। विद्यापति के चित्र नाना रंगों से रंजित कर दिये गये हैं; किन्तु चण्डीदास के चित्र सादे फ़ोटोग्राफ़ की नाईं हैं, जिनमें प्रकृति के नाना दृश्यों का सामंजस्य मानव-हृदय के भावों के साथ बड़े कुशल ढंग से किया गया है। चण्डीदास की कविता में भावात्मक सौंदर्य की अपेक्षा बाहरी तड़क-भड़क कम है। फिर भी कविता अत्यन्त हृदय-ग्राहिणी हुई है।

चण्डीदास की सबसे बड़ी बड़ाई इस बात में है कि उन्होंने शारीरिक अंग-संचरणों और गतियों को आध्यात्मिकता के रंग से रंजित कर दिया है। राधा के पूर्व-राग में कवि ने उसे कृष्ण-प्रेम में अतिशय विभोर दिखलाया है। इस बात का पता साधारण पाठक को भी लग जायगा।

चण्डीदास की राधिका प्रेम-गाथाओं में आनेवाली नायिकाओं में सर्व-श्रेष्ठ है। उसमें प्रेमिका की पूर्णता मौजूद है। राधा कृष्ण का नाम सुनती है। यह शब्द श्रवण-पुटों द्वारा उसके अन्तस्तल में प्रवेश करता है और वह बेचैन हो जाती है। वह उनके नाम की बार-बार आवृत्ति करती है। उस नाम की माधुरी का वह वर्णन नहीं कर सकती। उसके अधर स्मरण में खुले ही रह जाते हैं। वह नाम-स्मरण में उपासिका की तरह बेसुध हो जाती है, और कृष्ण-मिलन की अभिलाषा में तन्मय हो जाती है। राधिका कहती है—

सइ, केबा शइल श्याम नाम।
कानेर भितर दिया मरमे
पशिल गो आकुल करिल मोर प्राण॥

प्रेम-गाथा में ऐसा वर्णन नहीं उपलब्ध होता कि कोई व्यक्ति किसी के प्रेम-पाश में केवल उसका नाम सुनकर, आबद्ध हो जाता है; किन्तु राधिका केवल कृष्ण का नाम ही सुनकर उनके प्रेम में बह जाती है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति की आत्मा का, भूतकाल में कभी विश्वात्मा के साथ संयोग था, वह परम सौंदर्यानुभूति में अलमस्त थी। अब उसका उस परम देव से वियोग हो गया है, और वह शरीर रूपी तमावृत कारागार में क़ैद है जिसे अज्ञान की दीवारें घेरे हुई हैं। भाग्यवशात्, शरणागत-वत्सल का नाम जेलखाने की चहारदीवारी के अन्दर जाता है। तमसावृत आत्मा कुछ अतीत धुँधली स्मृतियों को संचित करती है। एक अद्भुत ज्ञानोत्पत्ति होती है और वह अज्ञात की खोज में चल निकलती है। इसी प्रकार का आध्यात्मिक भाव चण्डीदास के प्रथम तथा अन्यान्य गीतों में मिलता है।

चण्डीदास के गीतों में शिशु की सी सरलता है। कानों के लिए मधुर स्वर है, कल्पना के लिए सुन्दर और दिव्य सामग्रियाँ हैं, मस्तिष्क के लिए उच्च विचार हैं, हृदय के लिए गहरी और सच्ची संवेदना है, और आत्मा के लिए स्वर्गीय प्रकाश है। वास्तविक बात तो यह है कि इन गीतों को पढ़ते समय हमारा मन एक क्षण के लिए तमाम सांसारिक झंझटों तथा चिन्ताओं से छुटकारा पा जाता है, और परमात्मा के प्रेम-रस में पग जाता है। हम एक कल्पना के मनोरम राज्य में पहुँच जाते हैं, जहाँ मधुरतम संगीत-रस का निर्झर झरझर झर रहा है, और वहीं चण्डीदास की आत्मा से एकाकार हो जाते हैं!

कवि की प्रेम-कल्पना बहुत ही दिव्य और कोमल भावनाओं से आकलित है। प्रेम का यह रूप काल्पनिक-भूमि से व्यावहारिक लोक में न आता, यदि श्रीकृष्ण चैतन्य स्वयं राधिका बन कर प्रेम-नर्तक न बन जाते। दैविक प्रेम मनुष्य-रूपेण भूलोक में श्रीकृष्ण चैतन्य बन कर आया। कवि का प्रेम-विषयक यही दृष्टि-कोण था।

चण्डीदास की कविता का उदाहरण

सच तो यह है कि इन कवियों की कविताओं का मूल रूप ही पढ़ा जाय, क्योंकि उसमें उनका स्वाभाविक माधुर्य अन्तर्भूत है। अनुवाद में तो भाव छनकर आते हैं, उनका असली मज़ा जाता रहता है। प्रत्येक भारतीय विद्वान् का यह परम कर्तव्य है कि वह भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करे और उसके रत्नों का मूल्य स्वयं आँके, दूसरे की आँखों से असली रूप दृष्टिगोचर नहीं होता; अस्तु चण्डीदास ने अनेक गीत प्रेम-वैचित्र्य पर लिखे हैं; उनका यह गीत अत्यन्त प्रसिद्ध है—

पिरीति सुखेर सागर देखिया नाहिते नामिलाम ताय।
नाहिया उठिया, फिरिया चाहिते लागिल दुखेर वाय॥
के वा निरमिल प्रेम सरोवर निरमल तार जल।
दुखेर मकर फिरे निरन्तर प्राण करे टल मल्॥

गुरु जन ज्वाला, जलेर शिहाला, पड़सी जीयल माछे।
कुल पानी फल काँटा ये सकल सलिल बेड़िया आछे॥
कलंक पानाय, सदा लागे गाय छाँकिया खाइल यदि।
अन्तर बाहिरे कटु कटु करे, सुखे दुख दिल विधि॥
कहे चंडीदास शुन विनोदिनी, सुख दुख दुटी भाई।
सुखेर लागिया ये करे पिरीत दुख भाय तार ठाञि॥

[मैंने एक प्रेम का सागर देखा। मैं स्नानार्थ उसमें कूद पड़ी। नहाकर उठने पर मुझे दुःख की शीतल वायु लगी। इस निर्मल जलवाले प्रेम-सरोवर का किसने निर्माण किया? दुःख का ग्राह इसमें फिरा करता है, मेरा मन काँप रहा है। गुरुजन इसके शैवाल की निन्दा करते हैं, पड़ोसी तीखी बंसी लगाते हैं, जल-कल परिवार का नाम, चुभीले काँटों से बिद्ध है। अपयश के पंक से जल गंदा हो गया है। छानकर सेवन करने पर भी गले और त्वचा को कष्ट होता है। ब्रह्मा ने दुःख दिया। चंडीदास कहते हैं कि हे विनोदिनी! सुन, सुख-दुःख दो भाई हैं, जो सुख के लिए प्रेम करता है, दुःख उसके स्थान पर स्वयमेव जाता है।]

इस पद्य में चंडीदास ने साधारण रूपकों और उपमाओं द्वारा प्रेम के विश्व-व्यापक सिद्धान्त को समझा दिया है। उनकी भाषा सरल है; संवेदना सघन है और विचार उच्च हैं।

अब विद्यापति की ओर आइए। राधा-कृष्ण के विरह में आकुल हो रही है। वृन्दावन में उनके पुनः आने की कोई आशा नहीं है। अब वह उस श्रेणी पर पहुँच गई है कि उसके लिए कृष्ण का विरह असहनीय हो गया है। अब वह मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई है और साथिनियों को अपने अंतिम संस्कार के लिए सचेत कर रही है। वह कहती है—

मरिब मरिब सखि निचय मरिब
कानु हेन गुण निधि कारे दिये याब?
तोमरा यतेक सखि थे को मझु संगे।
मरणकाले कृष्ण नाम लिखो मम अंगे।
ललिते प्राणेर सखि मन्त्र दियो काने।
मरा देह पड़े येन कृष्ण नाम शुने॥
ना पोड़ाइओ राधा अंग ना भासाइयो जले।
मरिले तुलिया रेखो तमालेर डाले॥
सेइति तमाल तरु कृष्ण वर्ण हय।
अविरल तनु मोर ताहे जनु रय॥
कबहुँ सो पिया यदि आसे वृन्दावने।
पराण पायब हम पिया परशने॥

पुन यदि चाँद मुख देखने ना पाब।
विरह अनल माहे तनु ते गायिब ॥
भणये विद्यापति शुन बरनारी।
धैरज धर चित्ते मिलब मुरारि ॥

[हे सखि मैं निश्चय ही मर जाऊँगी ; कृष्ण ऐसे गुणनिधि रत्न को कैसे छोड़ जाऊँ ? मरण-काल में मेरे पास ही रहो और कृष्ण का नाम मेरे सारे शरीर में लिख दो। हे प्राण प्रिये ललिते ! मरते समय मुझे मंत्र दें, जिससे कृष्ण का प्यारा नाम मेरे कानों में पड़ जाय। राधा के मृतक शरीर को न तो जलाना, न पानी ही में फेंकना। इसे तमाल की डाल में बाँध रखना। यदि प्रियतम कभी वृंदावन में आयेगा तो उसके स्पर्श मात्र ही से मेरा शरीर अनुप्राणित हो जायगा। उस समय भी यदि मैं चन्द्रमुख को न देख पाऊँगी तो विरहाग्नि में शरीर को भस्म कर डालूँगी। विद्यापति कहते हैं कि हे सुन्दरियो ! सुनो, धैर्य रखो, भगवान् कृष्ण मिलेंगे।]

राधा को विश्वास है कि वह भगवान् कृष्ण के वियोगानल को बरदाश्त नहीं कर सकती और मरण निश्चय है, फिर भो वह मृतक शरीर के प्रिय-स्पर्श से पुनर्जीवित होने की प्रबल आशा रखतो है। भगवान् भक्तों के प्यारे हैं और वे भी भक्तों के वियोग को सह नहीं सकते ; भक्त की कुटी में अवश्य ही आयेंगे, चाहे जब आयें, यही कवि का एक मात्र विश्वास है, और इसी विश्वास पर प्राण न्यौछावर करने के लिए विरहिणी राधिका कवि के हृदय से सम्भूत हुई है।

विद्यापति और चण्डीदास के काव्योद्यान में जाकर किसी को लौटने की इच्छा न होगी। स्थानाभाव से केवल दो ही छन्दों पर पाठक समुदाय को संतोष करना पड़ेगा, फिर भी उनका सन्तोष विवशता-पूर्ण ही होगा।

उनके काव्यों के रसास्वादन में पूर्ण आनन्द तो तब आयेगा, जब बँगला भाषा का उचित ज्ञान हो तथा राधाकृष्ण की गाथा आध्यात्मिक दृष्टि से मालूम हो। और पाठक को भी सहृदय होना चाहिए ; बिना सहृदयता के कवियों के भावों के साथ सहानुभूति नहीं रख सकते, जिसके बिना कविता नीरस हो जाती है। कविता-पाठ के समय हमें स्वयं वही कवि बन जाना पड़ता है। उन्हीं कल्पनामयी परिस्थितियों में अपने को डाल देना पड़ता है।

इस छोटे से लेख में पाठकों को क्या मिला होगा, इसका मैं अनुमान नहीं कर सकता, क्योंकि यह तो महासागर की एक बूँद के समान है। ऐसे महान् कवियों का परिचय इतने छोटे निबंध में देना एक धृष्टता मात्र ही है। इस धृष्टता का तात्पर्य इतना ही है कि पाठक इस ज़रा-सी बानगी से कवि-द्वय के अपार काव्य-माधुर्य से परिचित होकर उसको सतत पान करने का प्रयत्न करें।

वियोग

कुमारी कमला कुमारी

हँस रही कुमुदिनी थी जब,
था हिमकर भी मुसकाता;
हाँ, किसके भय से अब वह
धीरे से खिसका जाता।

है कौन काल-सा आया,
उसकी इन मधु घड़ियों में?
ये तुहिन विन्दु बन आँसू
गुँथ पड़े मधुर लड़ियों में!

अलिनी भी रोती आई,
ढूँढ़ती उसी प्रियतम को;
जो नलिनी के उर में छिप
था बिता रहा निशितम को।

मधुकण के प्यासे मधुकर,
मधु चिन्तन ही में रहते;
विच्छेद-मिलन की पीड़ा
वे हँसकर निशिदिन सहते।

क्या कभी खिलेगी राका,
क्या शशि फिर मुसक्यायेगा?
जो छोड़ गया है जिसको
उसको क्या अपनायेगा?

मत कूक निठुर कोकिल अब,
मेरे उजड़े उपवन में;
आते हैं श्याम जलद घिर
मेरे इस नील गगन में!

ऊषा सी थी मुसक्याती,
था अरुण चूमता मुझको;
मेरी उन मधुघड़ियों में,
हा कसक हुई थी किसको?

रे कौन न देख सका तब,
मेरे उस मधुर मिलन को,
दुख पारावार हुआ है,
मैं ढूढ़ूँ कहाँ पुलिन को?

अम्बर के नील मुकुर में,
प्रतिविम्बित तेरा मुख] है,
मेरी दुखिया आँखों का,
वह चिर संचित मधु सुख है!

घन में चपला-सी छिप कर,
आती निःश्वास हमारी;
फिर धीरे धीरे बुझती,
जैसे जलती चिनगारी।

(अप्रकाशित 'ऊषा' से)

मित्र के नाम एक पत्र

श्री जनार्दनराय

प्रिय पनजी,

रहस्यवाद को समझाने के लिए मुझे लम्बी भूमिका की आवश्यकता नहीं, और न तुमको धड़कती हुई आतुरता की। मुझे 'तारे की करुण कहानी' से (आज कल 'करुण कहानियों' का युग है न!) जो प्रश्न प्राप्त हुए, वे मनोरंजक और क्रान्तिपूर्ण हैं। मेरा अपना विचार है, कि उनके प्रश्नोत्तरों से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा।

तारों को वायुमण्डल या आकाश में इस प्रकार टिमटिमाते, उबकते-झबकते देखकर क्या कभी तुमको आश्चर्य नहीं हुआ, पनजी? मुझे तो आश्चर्य के साथ-साथ असीमता का भी भान हुआ है; परन्तु असीमता का ज्ञान तो सभी को हो सकता है, ठीक है; और यही असीमता दार्शनिक के लिए उसके दर्शन का आदि-अन्त बन जाती है। इतना होते हुए भी, उसको उस असीमता से अर्थ और उद्देश्य-हीनतामय रहस्य का भान नहीं होता। वह विराट् की रचना करनेवाले के इस माया-जाल का लोहा मानता है; और अनेक अपूर्ण सम्पूर्ण तथ्यों का निरूपण कर शास्त्रों की रचना कर देता है। वह मनुष्य के सामने उद्देश्य और विधेय को उपस्थित करता है। वह मानव जाति को एक निश्चित मार्ग की ख़बर देता है। और प्रतिपल मानव जीवन के सामने नियम और नीति के बन्धन प्रस्तुत करता है। उसके इन निरूपणों की नींव पर हम-तुम समाज और धर्म का आविष्कार करते हैं। और न मालूम क्या-से-क्या लिख मारते हैं। कहने का तात्पर्य यह है, पनजी! प्रकृति के एक अथाह दृश्य को देखकर हमने अपने अनेक विज्ञानों और शास्त्रों की रचनाकर आचार्यत्व प्राप्त किया है; परन्तु इस आचार्यत्व की नींव तो मेरे चर्म-चक्षुओं से दृश्य-भूत एक निरुद्देश्य दृश्य मात्र है। मैं पूछता हूँ, क्या सतारक गगन-मण्डल को देखकर मुझे जहाँ रचयिता की अपरम्पारता का ज्ञान और तज्जनित कम्प हो सकता है, क्या वहाँ मेरे मस्तिष्क में यह भाव नहीं आ सकता, कि यह एक रहस्य है, जिसका आदि और अन्त नहीं है; अतः उद्देश्य नहीं है—विधेय नहीं है; स्पष्टतया, रहस्यमय सतारक आकाश अर्थहीन उद्देश्यहीन सौन्दर्य का व्यापार है। और हमारा यह लोक भी इसी आकाश में स्थित है।

तुम मुझे सनकी दार्शनिक कहकर अपनी स्वभावभूत उदारतापूर्वक खिल-खिला उठोगे; परन्तु रहस्यवाद का लक्षण इसी पर निर्भर है। रहस्यमय ऊपर-नीचे

आस-पास' (तुम्हारे शब्दों में विश्व) का रागात्मक वर्णन ही रहस्यवाद का काव्य है। तुम तो रवि बाबू के भक्त हो। उनके रहस्यवाद का लक्षण पढ़कर तुम मेरे इस लक्षण पर हँसोगे; परन्तु मुझे तो विश्व के नियमित हलन-चलन में सन्तोष-पूर्ण समाधान नहीं मिलता और साहित्य-संगीत-कला की उत्कर्ष सीमाओं की कल्पना करते हुए मुझे यही प्रतीत हुआ है कि प्रियतम, सैयाँ, स्वामी आदि सम्बोधन उद्देश्यहीन विराट् का वह स्वरूप-निरूपण है, जिसमें झुँझलाहट, (जो रहस्य की अभेद्य अथाहता से स्वभावतः उत्पन्न होती है) और अन्त में, समर्पण, (जो असमर्थावस्था का उत्तर व्यापार है) ही स्वरूपित है। जिस बल पर एक दार्शनिक प्रकृतिवाद की घोषणा करता है, उसी बल पर मैं भी यह कह सकता हूँ, कि रहस्यवाद रहस्यपूर्ण की स्वचिन्तना मात्र है। कवि उस चिन्तन में अपनी कल्पना अपनी अनुभूति और अपना तल्लीनता पूर्ण रागाङ्कित हृदय भर देता है। ऐसे प्रयत्न को हम रहस्य-काव्य कहते हैं।

रहस्य-काव्य का यह लक्षण कदाचित् रूखा प्रतीत हो; परन्तु एक दार्शनिक के लिए रहस्य का उद्घाटन औ दर्शन सरसता पूर्ण शायद ही होता हो। काव्य को इसीलिए तो मैं दर्शन से अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। मनुष्य आनन्द और लावण्य ही का भूखा है। प्रेम, त्याग और ममता, स्नेह, सौहार्द्र और बन्धुत्व आदि आत्मोत्कर्षीय भाव आनन्द और रूप की चिन्तना के लिए विविध प्रणालियाँ भर हैं। कवि की वाणी में जो अनिर्वचनीय 'रस' का पग-पग पर अनुभूति संचार होता है, वह इसी पिपासा के केन्द्रीभूत होने के कारण; अतः दार्शनिक का शुष्क, मस्तिष्क-क्षोभी विषय कवि के हाथों सुन्दर, सरस और आनन्दप्रद बन जाता है। यदि असम्भव को सम्भव करनेवाला ईश्वर है, तो वह कवि के कण्ठ के द्वारा हमको अपनी वाणी सुनाता है; अन्यथा सर्वसाधारण को हम योगी बना नहीं सकते और अतः हम ईश्वरत्व का निदर्शन देकर जगत् की जीवात्मा का चिर-वियोग भी प्रमाणित नहीं कर सकते। हाँ, जो कवि इस अनन्त चिर-वियोग का गीत गाते हैं, वे ईश्वरत्व का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करते हैं; परन्तु सच्चा रहस्यवाद ईश्वरत्व को भी रहस्य ही कहता है—सच्चा रहस्यवादी इशारों या कल्पित मूर्तों के द्वारा अपना आश्चर्य, अपना कुतूहल, अपना समर्पण, अपने व्यंग्य और अपना भावों-रागों भरा हृदय खोलकर भी यह नहीं मान लेता कि वह 'उसके' विरह में जल रहा है। वह तो जलता भर है; क्यों? इसका उत्तर न तो उसके पास है ही और न हो ही सकता है। यदि रवि बाबू यह कह दें, कि उन्होंने अपने स्वामी या सखा को देख लिया है, तो निश्चय ही वह अपनी तल्लीनता में किसी अदृश्यलोक के सूक्ष्म शरीरधारी प्राणी की बात कह रहे हैं। जिसको तुम साध सकते हो, वह सीमित है, पन्त ने इसीलिए यह कह दिया है। 'अलभ है इष्ट अतः अनमोल; साधना ही जीवन का मोल!' जो अलभ्य है, करोड़ो-पद्मों-कल्पों तक अविराम-

अनवरत प्रयत्न करने पर भी जो नहीं प्राप्त होता, वही रहस्यवादी कवि के हृदय-सागर में शोले की भाँति जलता है, शूल की तरह चुभता है। वह प्रत्येक दृश्य पदार्थ को देखकर स्तब्ध, चकित और मुग्ध हो जाता और सिर धुन देता है। यहाँ तक कि स्वप्न तक में वह अपना किंकर्त्तव्यविमूढ़ आश्चर्य नहीं खोता; और उस सुषुप्तावस्था में वह अपनी काव्य-रचना करता रहता है। रहस्यवाद सब शास्त्रों और दर्शनों के बन्धनों से मुक्त है—स्वतंत्र है। रहस्यवादी कवि समाज और धर्म के अन्योन्याश्रित नियमों या सतर्कताओं से परे है; वह निरंकुश है। अतः जो समालोचक रहस्यवाद का यह लक्षण करते हैं कि प्रकृति के प्रत्येक दृश्य विषय में उसी की सत्ता और लीला का दर्शन और उसको देखकर प्रश्न-करण ही रहस्यवाद की व्याख्या है, वे 'उसकी' सत्ता को मानकर एक अपवाद को जन्म देते हैं। हमारे सामने केवल अपनी उत्सुकता है; अपनी वीक्षणीय मनोवृत्ति है। हमारे सामने 'वह' नहीं है; उसकी सत्ता भी नहीं है। हमारे सामने तो केवल एक तथ्य है 'यह है, क्या है—क्यों है, ओह! यह तो गूढ़ है, गंभीर है—उफ़! रहस्य है!' इसी को हम अपनी प्रतिभा द्वारा विविध छन्दों और कल्पनाओं में अनेक अभिव्यंजनों और शैलियों में अभिव्यक्त कर सकते हैं। यह मान लेना कि सर्वत्र उसी का उज्ज्वल प्यार दृश्यभूत हो रहा है, साकार ब्रह्मत्व की उपासना करना है। रहस्यवाद में तो उपासना का नाम तक नहीं लिया जा सकता। किसकी उपासना करोगे? जब कोई स्पष्ट रेखांकण या चिह्न भी वहाँ नहीं है। रहस्यवाद अनंत-अनादि और निरुद्देश्य रहस्य की आराधना मात्र है।

तुम कदाचित् मुझसे यहाँ एक प्रश्न कर सकते हो, और वह यह कि यदि मैं समस्त दृश्य और स्पर्शभूत सृष्टि को उद्देश्यहीन मानता हूँ, तो अपरोक्ष रूप से मैं सृष्टि-रचना का उद्देश्य स्वीकार करता हूँ; (चाहे फिर वह उद्देश्यहीनता ही क्यों न हो।) आगे तुम यह भी उठा सकते हो, कि रहस्यवाद में उद्देश्य का निश्चयात्मक निरूपण हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसमें तो प्रश्न मात्र है, उत्तर नहीं। मैं तुम्हारी इस दलील को मान लेता हूँ; परन्तु साथ ही मैं एक बात स्पष्ट किये बिना नहीं रह सकता, जिस दृष्टि से मैंने विश्व को उद्देश्यहीन सौन्दर्य या रहस्य-ऋचा बतलाया है, वही मूल रूप में रहस्यवादी का प्रश्न बन जाती है। कदाचित् तुम इस बात से सहमत न होगे। अच्छा, तो इसको यों कह दो—रहस्यवादी जिसको अथाह रहस्य मानता है, वह यही गोपनीय उद्देश्य-हीनता है, जो आगे जाकर कला के चरमोत्कर्ष के रूप में प्रकट होती है।

तुम मुझसे यह पूछ सकते हो, कि मैं सृष्टि को निरुद्देश्य क्यों मानता हूँ। इसका उत्तर मैं अपने अगले पत्र में दूँगा। अभी तो रहस्यवाद की मेरी जो समझ है, उसको तुम्हारे पास लिख भेजता हूँ। 'दाय आवे' तो उसका हाथ ग्रहण कर लेना; अन्यथा सही-सलामत हमारे पास भेज देना। समझे, यह न हो कि उसको

अपनी साथिन भी बना लो, और उदयपुर आने पर कहो, कि हमें आपकी 'राय' पसन्द न आई।

अब मैं ज़रा सुस्ता लेना चाहता हूँ; क्योंकि अब मुझे कुछ पंक्तियाँ इसलिए और लिखनी हैं कि तुमने अपने प्रश्न में हनुमानजी की 'लंकादाहनी' पूँछ भी लगा दी है। 'रहस्यवाद को मैं क्यों इतना पसन्द करता हूँ?' जी में तो आता है कि कह दूँ, हमारी इच्छा। पर नहीं, तुम्हारे नाराज़ हो जाने का डर है, कहीं उदयपुर आने पर तुम परौंठे और आलू का शाक न खिलाओ तो! भई, जिह्वा को जीतने का प्रयत्न तो मैं तब करूँगा, जब तुम्हारे परौंठे में घी कम और आलू में किसमिस न होगी। हाँ, सुस्ताने के कितने ही ढंग हैं; पर मुझको तो कुरसी से उठकर दोनों हाथों को ऊपर की ओर उठा, शरीर को तानकर अव्वासी खाते हुए—'यार मज़ा आ गया!' यही कहना पसन्द आता है।

ऑल राइट, अब चटपट पत्र समाप्त ही कर डालता हूँ। हाँ, मैं रहस्यवाद को इसलिए पसन्द करता हूँ, कि वह रहस्यवाद है। तुम शायद इस पंक्ति को पढ़कर हँस पड़ोगे (जैसी कि हँसने की तुम्हारी आदत है और जिसके कारण तुमको स्काउटिंग से बिना नोटिस नारियल पकड़वा दिया गया है) परन्तु मेरी इसी पंक्ति में साहित्य-संसार की कितनी ही समस्याओं के उत्तर भरे पड़े हैं। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या है, 'कला'। इसके विकास के आदर्श में सभ्य जातियों के कलाकारों में मतभेद पाया जाता है। जिस प्रकार हमारी 'परिषद्' में मतभेदों का सूक्ष्म भेद है, उसी प्रकार कला की विविध अभिव्यंजना-शैलियों और अभिव्यंजनों के प्रदर्शनों में कलाकारों के मत सर्वदा बदलते आये हैं। तुमको उनके आज दिन तक के भेदोपभेदों के दलदल में न घसीटकर केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि कला का अति आधुनिक आदर्श है 'धुँधलापन'। चित्रकला में तुम बँगला-शैली में इसका आभास पाते हो, और रा० रा० कनु देसाई के छाया-चित्रों में तो यह अपनी पूर्णता पर पहुँच गया है। इस 'धुँधलेपन' के आदर्श की उत्पत्ति रहस्यवाद ही से उत्पन्न हुई है। और देखा जाय तो कला का यह आदर्श ही कला-तत्व का निर्माण करता है। कला में यदि कृत्रिमता न होगी, तो उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। कृत्रिमता से मेरा मतलब यह नहीं है, कि सृष्टिभूत स्वाभाविकता का सर्वथा अभाव कर दिया जाय। नहीं, कृत्रिमता से मेरा अपना तात्पर्य तो यह है, कल्पनाकार की अपनी रागात्मक दृष्टि या धारणा से नैसर्गिक विषय का सृजन हुआ हो। अजंता-गुफा की चित्रकारी में मनुष्याकृतियों के अंगों की लचकों और घुमावदार मरोड़ों को क्या तुमने कहीं देखा है? रति के क्रीड़ा-कलापों को दृष्टि में रखकर युवावस्था की स्वाभाविक पिपासा को मदन और इसी प्रकार हृदय के प्रत्येक वीक्षणीय भाव को हमारे पूर्वज निर्मितमूर्ति और चरित्र के साथ आबद्ध कर गये हैं। इसी मनोवृत्ति को साकारवादी पसन्द करेगा; परन्तु रहस्यवादी, जिसको हम अपवादों

के साथ निराकारवादी कह सकते हैं—यह कदापि पसन्द नहीं कर सकता। वस्तुतः परम्परा की रूढ़ उपमाओं ने काव्य-जगत् का उद्धार नहीं किया है। ऐसा मालूम होता है, कि सामाजिक धर्मशास्त्र की भाँति साहित्यिक समाज में भी उपमाओं की परम्परा द्वारा निर्मित यह धर्मशास्त्र-सा व्यापार बन गया है। कल्पनाओं को इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश बना देना कवि की प्रतिभागत कल्पना को निमंत्रित करना है; ख़ैर, इस गौण बिन्दु को छोड़कर मैं अपने बिन्दु पर आता हूँ।

जैसा मैं कह रहा था, भावों को कल्पना में उलझा-सुलझाकर अनुभूति के साथ प्रदर्शित करना ही रहस्यवाद की काव्य-कला की सुन्दरता है, उसी प्रकार यह भी कहता हूँ, कि रहस्य-काव्य की यह सुन्दरता केवल इस 'धुँधलेपन' पर ही निर्भर नहीं है। रहस्यवाद में जो गंभीर मनन है, उसका रागात्मक अभिव्यंजन ही उस कल्पनात्मक सौन्दर्य का विशेष प्रस्फुटित सौन्दर्य बन जाता है। 'मेरा मन एक रहस्य है, जिसकी कल्पना मैं विद्युत् के इटंमद में ढूँढ़ पाता हूँ।' इस एक पंक्ति में लेखक ने उस अनन्त सौन्दर्य, जिसको हम प्रेम, ज्ञान, भक्ति सब कुछ कह सकते हैं, अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। मन मनुष्य के अतीत उसकी भावनाओं बुद्धि और रागों का नामकरण मात्र है; और यही अनादि सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की व्याख्या मूल, मर्म और साहित्य है। मन को जो मतवाले मर्कट की उपमा देते हैं और उसका स्वरूप स्थिर करते हैं, वे विराट् मन की एक ही शाखा-प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ही वस्तुतः मन आत्मा, हृदय और बुद्धि, इन तीन नामकरणों की सामूहिक संज्ञा है। यहाँ मेरा और तुम्हारा विरोध एटलैंटिक महासागर का रूप ले सकता है; परन्तु प्रिय! यदि ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, तो अपने-आप से अन्याय कर झूठ बोलता हूँ। इस विवादग्रस्त बिन्दु को अभी यहीं छोड़कर मैं इसकी सहायता द्वारा यह बताना चाहता हूँ, कि रहस्यवादी कवि या लेखक की कला मन की कला है—काव्य है। जितने प्रश्न उठते हैं, वे मन के द्वारा उठते हैं; उनका समाधान भी मन ही करता है। कल्पना, भाव, अभिव्यंजन, सब कुछ मन की लीला है—मनोविनोद है। यही मनोविनोद विचारक के द्वारा दर्शन, अन्वेषक के द्वारा विज्ञान और साहित्यिक के द्वारा साहित्य बनकर हमारे जीवन का अध्ययन-विषय बन गया है। रहस्यवाद का कलाकार मन के इतने बड़े सार्वभौम स्वरूप के सौन्दर्य की कल्पना करता है; उसकी क्रीड़ा से आनन्द इकट्ठा करता और अन्वीक्षणीय मनन के द्वारा रहस्यवाद की उत्पत्ति करता है। अपनी इस साधना के सतत प्रयत्न को जब वह ज्यों-का-त्यों अभिव्यंजित करता है, तब 'धुँधलेपन' का प्रादुर्भाव होता है।

अतः तुम समझ सकोगे, कि रहस्यवाद का साहित्य ही वास्तव में स्थायी साहित्य है। यह बात मैं दावे के साथ लिख सकता हूँ। तुम कहोगे, कि तब तो तुलसी और सूर के काव्य शाश्वत नहीं हैं; परन्तु रामायण और सूरसागर के मूल में राम और सीता अभी कल ही की बात हैं, सारनाथ के नव-निर्मित विहार में दो

जापानी चित्रकारों को बुद्ध के जीवन-चरित्र के चित्रों को भीत पर अंकित करते देखकर मैंने सराहना की ; परन्तु एक सड़क-निर्माण-विभाग के ठेकेदार महाशय को अंकित चित्र तनिक भी पसन्द न आये। इसका कारण केवल यही है, कि चित्रकार ने उन चित्रों में स्वाभाविकता की सर्वथा अवहेलना की है। वहाँ तो भाव की दुनिया है; और भाव की दुनिया प्रतिपल परिवर्तनशील और प्रतिपल स्वयंभू है। वहाँ आकृति का व्यवस्थित ढंग नहीं है; इसीलिए हम कवियों को कल्पना-जगत् में चमत्कार पैदा करते हुए देखकर वाह-वाह कर उठते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय-कोडक-फोटो-स्पर्द्धा में जिस चित्र पर पचास हज़ार रुपये इनाम दिये गये थे, उसे तो तुमने देखा ही है। उसमें आख़िर है क्या? धुँधला अस्पष्ट सागर है, जिसके वारापार से आकाश अपने गोधूलि के बाहु फैलाकर मिल रहा है और एक धुँधली मनुष्याकृति धब्बे के रूप में बनी हुई एक चट्टान पर बैठी है। चित्रकार ने इस चित्र में कला को जिस दृष्टि से देखा है, वह अपने चित्र में मानो उसको सजीव कर हमारे सामने रख दिया है। कहने का तात्पर्य यह कि अस्पष्टता-घुलमिलापन ही सौन्दर्य और कला का यौवन-वसन्त है। यह बात कम-से-कम आज का कलाकार शिरोधार्य करता है।

हाँ, तो रहस्यवाद का काव्य मुख्यतः घुलमिलेपन का सजल गान है। (तुम मुझको ऐसी भाषा के व्यवहार के लिए क्षमा कर देना। भाषा विषय की अनुवर्तिनी हुआ करती है न!) मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि कुतूहल, मग्नता, मुग्धता और अनुराग भरे हुए समस्या-प्रश्न ही रहस्यवाद की संक्षिप्त रूप-रेखा है और उसके उत्तर देने का वैसा ही अनुभूतपूर्ण प्रयत्न ही रहस्य-काव्य है। जब रहस्यवादी कवि एक गायक दार्शनिक है—गायक दार्शनिक से मेरा तात्पर्य यह नहीं है, कि दर्शन के तत्वों को श्लोकों में बाँध-बूँधकर रख दिया जाय—तब उसका काव्य उपर्युक्त धुँधलेपन का सम्पूर्ण नज़ारा है। यही धुँधलापन मुझको रहस्यवाद और उसके काव्य का प्रेमी बनाये हुए है। धुँधलेपन से तुम कदाचित् और बात न समझ जाओ; इसलिए मैं उसको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

धुँधलेपन से मेरा तात्पर्य केवल यही है, कि भावों का आपस में उलझ-सुलझकर कल्पना को रंग-बिरंगी करते रहना। सूरदासजी ने राधा के सौन्दर्य-वर्णन में कल्पना को इस धुँधलेपन का धनी नहीं बनाया; फलतः वे उत्तुंग उरोज, काननचारी मृग-नैन और इन्दु के समान मुख ही में रह गये। इसी प्रकार बिहारी, मतिराम, पद्माकर, विद्यापति आदि ढेरों महाकवि हमारे काव्य-साहित्य को एक अमर सौन्दर्य-निधि न दे सके, और जो दे गये, वह आगामी सदियों के लिए श्रेणी-विभाग का विषय बन गया है। तुलसीदासजी ने भी जहाँ-जहाँ राम और जानकी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है; वहाँ पश्चात्-भूमि के रूप में उन्होंने निराकारत्व-लीन सौन्दर्य-छटा की इंगनाएँ दी हैं। हाँ, मैं यह मानता हूँ कि मनोज, रति, वसन्त आदि रहस्यमय अनंत सौन्दर्य, रस और मद के कल्पित नाम हैं; परन्तु

'कोटि मनोज लजावनि हारे' न कहकर यदि गोसाईंजी राम की एक ही मदन की कल्पित रूप-रेखा से तुलना करते जाते, तो वह सौन्दर्य-वर्णन चूमने के योग्य हो जाता। इस बात को तो मैं सहर्ष मानता हूँ, कि हमारी साहित्यिक उपमाएँ कल्पनाओं की प्रकट-स्थित परम्पराएँ हैं; परन्तु यदि कवि मदन के इस साकार नामकरण ही से सन्तोष मान बैठता है, तो वह सुग्धकर चमत्कार और सौन्दर्याभिव्यंजन का सच्चा आनन्द तो दे ही नहीं सकता। सच बात तो यह है, हमारे पिछले खेवे के कवियों ने प्राकृतिक तत्वों की सौन्दर्य-कल्पनाओं को परम्परा के रूप में निर्मित कर दिया है। जिस प्रकार बीजगणित के कोष्ठक उस शास्त्रके मुख्य-मुख्य तत्वों के सत्य के निबंधक हैं, उसी प्रकार यौवन की मधुभरी भोग-सुखमा को रति, कृष्ण और राधा के माध्यम द्वारा अनंत रहस्य ही का निरूपण हुआ है। इसमें अपवाद केवल इतना ही है, कि राम और कृष्ण, सीता और राधा निराकार रहस्य की कल्पना पुरुष और प्रकृति, परमात्मा और आत्मा—कुछ भी कह दो—की भी एक लोकगत सामाजिक कल्पना है और ऐसी कल्पनाएँ हम सब हैं।

बस, अब अधिक लिखकर तुम्हारा अमूल्य समय नष्ट करना नहीं चाहता। अँधेरे कमरे में घुसकर रहस्यवाद की कल्पना और उसकी भी कल्पना—मनुष्य की तसवीरें उतारकर धोते हो कि नहीं? न धोते हो, तो कृपा कर धोना शुरू कर दो! और हो सके, तो प्रकृति—न भूला, माया की प्रतिनिधि स्वरूप 'श्री' की एक तसवीर छापकर भेज दो। तुम्हारा गद्यकाव्य 'हंस' का मोती बन गया है। आश्चर्य तो यह है, कि रहस्यवाद का एक मनोरंजक उदाहरण प्रेमचन्दजी हैं। हैं तो वे हम-तुम जैसे मनुष्य, वही पुरुष या परमात्मा का सीमित या जीवगत पंचभूतबद्ध स्वरूप; पर निकलते हैं, तो 'हंस' के रूप में। अब भला बताओ तो, यह हंस कितनी अनूठी कल्पना है? जिसके पेट में तुम्हारा गद्यकाव्य पड़ते ही मोती बन गया—अभी तक मैं तो यही सुनता आ रहा था, कि सीप के अन्दर स्वाति बूँद पड़कर मोती बन जाता है; पर अब मैं यही कहूँगा कि, प्रेमचन्दजी के हाथों में स्वाति-बूँद पड़कर हंस और उसका भोज्य पदार्थ मोती दोनों ही बन जाता है! कहो है रहस्य कि नहीं?

मुक्ता-मंजूषा

हिन्दी

समाजिक सुधार बनाम राजनीतिक सुधार

अक्टूबर के 'विश्वमित्र' में श्री सन्तराम बी० ए० का एक बहुत अच्छा लेख 'सामाजिक सुधार बनाम राजनीतिक सुधार' प्रकाशित हुआ है। उसे हम ज्यों का त्यों यहाँ उद्धृत करते हैं—

सामाजिक सुधार का मार्ग, कम-से-कम भारत में मोक्ष-मार्ग के सदृश, अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है। भारत में समाज-सुधार के मित्र थोड़े और समालोचक बहुत हैं। समालोचकों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी तो राजनीतिक सुधारकों की है और दूसरी साम्यवादियों की।

एक समय था जब सब कोई यह स्वीकार करता था कि सामाजिक निपुणता के बिना किसी भी दूसरे क्षेत्र में स्थायी उन्नति सम्भव नहीं। तब लोग यह भी मानते थे कि कुरीतियों द्वारा पहुँची हुई हानि के कारण हिंदू-समाज में सामाजिक दक्षता नहीं रही, इसीलिए इन कुरीतियों के मूलोच्छेदन के लिए निरन्तर प्रयत्न होना चाहिए। इस सचाई को स्वीकार कर लेने के ही कारण राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के साथ-साथ सोशल कान्फ़रेन्स की भी नींव रखी गयी थी। कांग्रेस देशके राजनीतिक सङ्गठन की कमज़ोरियाँ दिखलाती थी, और सोशल कान्फ़रेन्स हिन्दू-समाज के सामाजिक सङ्गठन की कमज़ोरियों को दूर करने का यत्न करती थी। कुछ काल तक कांग्रेस और कान्फ़रेन्स दोनों एक ही कार्य के दो अङ्गों की तरह मिलकर काम करती रहीं। दोनों का वार्षिक अधिवेशन एक ही पण्डाल में होता था; परन्तु जल्दी ही दो दल पैदा हो गये—एक राजनीतिक सुधार दल और दूसरा समाज-सुधार दल। दोनों में प्रचण्ड विवाद छिड़ गया। राजनीतिक सुधार दल राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन करता था और समाज-सुधार दल सोशल कान्फ़रेन्स का। इस प्रकार दोनों संस्थायें एक-दूसरे की विरोधी दल बन गयीं। विवादास्पद विषय था कि क्या राजनीतिक सुधार के पहले सामाजिक सुधार आवश्यक है? कोई दस वर्ष तक दोनों शक्तियाँ बराबर-बराबर तुली रहीं, कोई भी दल दूसरे को दबा न सका। परन्तु यह बात स्पष्ट दीख रही थी कि सोशल कान्फ़रेन्स का भाग्य-नक्षत्र शीघ्रता से अस्त हो रहा है। जो लोग सोशल कान्फ़रेन्स के अधिवेशनों के प्रधान

बनते थे, वे शिकायत करते थे कि अधिकांश सुशिक्षित हिन्दू राजनीतिक प्रगति चाहते हैं और समाज-सुधार के प्रति उदासीन हैं। कांग्रेस में भाग लेनेवालों की संख्या बहुत अधिक होती थी। उससे सहानुभूति रखनेवालों की संख्या उससे भी अधिक थी; परन्तु सोशल कान्फ़रेन्स में सम्मिलित होनेवालों की संख्या इनसे बहुत ही कम होती थी। जनता की इस उदासीनता के बाद शीघ्र ही राजनीतिकों ने खुल्लमखुल्ला सामाजिक सम्मेलन का विरोध आरम्भ कर दिया। कांग्रेस पहले सामाजिक सम्मेलन के लिए अपना पाण्डाल दिया करती थी; परन्तु अब श्री० बाल गङ्गाधर तिलक के विरोध करने पर कांग्रेस ने अपना पण्डाल देना भी बन्द कर दिया। शत्रुता का भाव यहाँ तक बढ़ा कि जब सामाजिक सम्मेलन ने अपना अलग पण्डाल खड़ा करना चाहा, तो इसके विरोधियों ने इसे जला डालने की धमकी दे दी। इस प्रकार कालान्तर में राजनीतिक सुधार के पक्षपातियों का दल जीत गया और सामाजिक सम्मेलन (सोशल कान्फ़रेन्स) तिरोहित होकर विस्मृत हो गया। सन् १८९२ में मि० डब्ल्यू० सी० बनर्जी इलाहाबाद में कांग्रेस के आठवें अधिवेशन के प्रधान हुए थे। उन्होंने उस समय जो भाषण दिया था, वह एक प्रकार से सोशल कान्फ़रेन्स का अन्त्येष्टि-भाषण था। आपके शब्द थे—

'मैं उन लोगों के साथ सहमत नहीं हूँ जो कहते हैं कि जब तक हम अपनी सामाजिक पद्धति का सुधार नहीं करते तब तक हम राजनीतिक सुधार के योग्य नहीं हो सकते। मुझे इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।... क्या हम (राजनीतिक-सुधार के लिए) इसलिए योग्य नहीं हैं, क्योंकि हमारी विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता और दूसरे देशों की अपेक्षा हमारी लड़कियाँ छोटी उम्र में ब्याह दी जाती हैं? या हमारी पत्नियाँ और पुत्रियाँ हमारे साथ गाड़ी में बैठकर हमारे मित्रों से मिलने नहीं जातीं? या क्योंकि हर्षध्वनि हम अपनी बेटियों को ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज नहीं भेजते?' (हर्ष ध्वनि)

उस समय अनेक ऐसे लोग थे और अब भी हैं, जो इस विषय में कांग्रेस की जीत देखकर प्रसन्न थे; परन्तु जो लोग समाजिक सुधार के महत्त्व में विश्वास रखते हैं, वे पूछ सकते हैं कि क्या मिस्टर बनर्जी की बात का कोई उत्तर नहीं? क्या इससे सिद्ध होता है कि विजय उन्हीं की हुई, जो सच्चे थे? क्या इससे पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक सुधार का राजनीतिक सुधार से कुछ सम्बन्ध नहीं? आइए, तनिक इस दृष्टि से अछूतों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के व्यवहार पर विचार करें। इससे इस विषय को समझने में सहायता मिलेगी।

पेशवाओं के शासन-काल में, महाराष्ट्र देश में, यदि कोई सवर्ण हिन्दू सड़क पर चल रहा हो तो अछूत को वहाँ चलने की आज्ञा नहीं होती थी, ताकि कहीं उसकी छाया से वह हिन्दू भ्रष्ट न हो जाय। अछूत को अपनी कलाई पर या गले में निशानी के तौर पर एक काला डोरा बाँधना पड़ता था, ताकि हिन्दू उसे

भूल से स्पर्श न कर बैठे। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे कमर में झाड़ू बाँधकर चलें। चलने से भूमि पर उनके पैरों के जो चिह्न बनें, उनको उस झाड़ू से मिटाते जायँ, ताकि कोई हिन्दू उन पद-चिह्नों पर पैर रखने से अपवित्र न हो जाय। पूना में अछूत को गले में मिट्टी की हाँड़ी लटकाकर चलना पड़ता था, ताकि उसे थूकना हो तो उसमें थूके; क्योंकि भूमि पर थूकने से यदि उसके थूक पर किसी हिन्दू का पाँव पड़ गया, तो वह अपवित्र हो जायगा।

मध्य भारत में बलाई नाम की एक अछूत जाति रहती है। उसका कुछ वर्णन ४ जनवरी १९२८ के 'टाइम्स आव इण्डिया' में छपा था। पत्र के सम्वाददाता ने लिखा था कि सवर्ण हिन्दुओं ने, अर्थात् कालोटों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने, जिनमें ज़िला इन्दौर के कनारिया, बिचोली हफ़सी, बिचोली मरदाना और लगभग १५ दूसरे गाँवों के पटेल और पटवारी भी थे, अपने-अपने गाँव के बलाइयों को सूचना दी कि यदि तुम हममें रहना चाहते हो, तो तुम्हें निम्नलिखित आज्ञायें माननी पड़ेंगीः—(१) बलाई तिलाई पगड़ी नहीं बाँधेंगे। (२) वे रङ्गीन या सुन्दर किनारे वाली धोतियाँ नहीं पहनेंगे। (३) वे किसी हिन्दू का मृत्यु-समाचार उसके सम्बन्धियों को पहुँचायेंगे, चाहे वे सम्बन्धी कितनी ही दूर क्यों न रहते हों। (४) हिन्दुओं के विवाह में बरात के आगे-आगे बलाई बाजा बजाते हुए चलेंगे। (५) बलाई स्त्रियाँ सोने-चाँदी के गहने नहीं पहनेंगी; वे सुन्दर घाँघरे और जाकेट नहीं पहनेंगी। (६) बलाई स्त्रियाँ हिन्दू स्त्रियों की प्रसूति में उनकी सेवा करेंगी। (७) बलाई हिन्दुओं की सेवा करेंगे और इसके लिए कोई पारिश्रमिक नहीं माँगेंगे; हिन्दू अपने-आप जो कुछ उन्हें दे दें, उसी पर वे सन्तुष्ट हो जायँगे। (८) यदि बलाइयों को ये बातें स्वीकार न हों, तो वे गाँव छोड़कर चले जायँ। बलाइयों ने इन आज्ञाओं को मानने से इनकार कर दिया; और हिन्दुओं ने उनका विरोध शुरू किया। बलाइयों को गाँव के कुओं से पानी भरने और अपने पशु चराने से रोक दिया गया। बलाइयों को हिन्दुओं की भूमि में से होकर जाने से मना कर दिया गया। इसलिए यदि बलाई के खेत के इर्द-गिर्द हिन्दुओं के खेत हों, तो बलाई अपने खेत में नहीं जा सकता था। हिन्दुओं ने अपने पशु बलाइयों के खेतों में छोड़ दिये। बलाइयों ने इस अत्याचार के विरुद्ध इन्दौर-दरबार में आवेदन पत्र दिये; परन्तु उनको ठीक समय पर सहायता न मिल सकी और अत्याचार उसी प्रकार जारी रहा। इसलिए सैकड़ों बलाइयों को स्त्री-बच्चों सहित उन घरों को छोड़कर, जहाँ उनके बाप-दादा पीढ़ियों से रहते आये थे, धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर और दूसरे निकटवर्ती राज्यों के गाँवों में चला जाना पड़ा। उनके नये घरों में उनके साथ कैसी बीती, इसका वर्णन करना यहाँ ठीक नहीं।

गुजरात के अन्तर्गत कविथा ग्राम की दुर्घटना अभी पिछले साल की ही बात है। कविथा के हिन्दुओं ने अछूतों को आज्ञा दी कि तुम गाँव के सरकारी स्कूल

में अपने बच्चों को भेजने का आग्रह मत करो। सवर्ण हिन्दुओं की इच्छा के विरुद्ध अपने नागरिक अधिकार के उपयोग करने का साहस करने के लिये बेचारे अछूतों को कितना कष्ट सहन करना पड़ा, यह सब कोई जानता है। इसका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। गुजरात के अहमदाबाद ज़िले के जनू नामक गाँव की एक घटना सुनिये। नवम्बर सन् १९३५ में वहाँ के कुछ खाते-पीते अछूत परिवारों की स्त्रियों ने धातु के बासनों में पानी लाना शुरू किया। अछूतों-द्वारा धातु के बासनों के उपयोग को सवर्ण हिन्दुओं ने अपना अपमान समझा और अछूत स्त्रियों की ढिठाई के लिये उन पर हल्ला बोल दिया।

जयपुर राज्य के चकवारा गाँव की एक हाल की घटना है। वहाँ के कुछ अछूतों ने तीर्थ-यात्रा से लौटकर गाँव के अछूत भाइयों को भोज देने का प्रबन्ध किया। उन्होंने घी के पकवान बनाये। परन्तु जब अभी अछूत लोग भोजन कर ही रहे थे कि हिन्दू लोग लाठियाँ लिये हुए सैकड़ों की संख्या में वहाँ आ धमके। उन्होंने उनके भोजन को ख़राब कर दिया और खानेवालों को पीटा। वे बेचारे जान बचाकर भाग गये। इन निहत्थे अछूतों पर यह घातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका उत्तर यह दिया गया कि क्योंकि अछूत आतिथ्यदाता ने घी के पकवान बनाने की ढिठाई की थी और उसके अतिथियों ने अछूत होकर घी खाने की मूर्खता की थी। इसमें सन्देह नहीं कि घी केवल धनी लोग ही खा सकते हैं; परन्तु आज तक यह कोई भी नहीं समझता था कि घी खाना भी कोई बड़प्पन का निशान है। चकवारा के सवर्ण हिन्दुओं ने प्रकट कर दिया कि अछूतों को घी खाने का अधिकार नहीं, चाहे वे ख़रीद भी सकते हों; क्योंकि इससे हिन्दुओं की गुस्ताख़ी होती है। यह १ ली अप्रैल सन् १९३६ या उसके लगभग की घटना है।

इन घटनाओं के वर्णन के बाद अब सामाजिक सुधार का पक्ष सुनिए। इसमें हम मि० बनर्जी की युक्ति को ही लेकर राजनीतिक हिन्दुओं से पूछते हैं—'अछूतों जैसी अपने देश की एक बड़ी श्रेणी को सार्वजनिक स्कूलों के उपयोग की आज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं? उनको सार्वजनिक कूओं के उपयोग की आज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं? उनको सार्वजनिक बाज़ारों और गलियों का उपयोग करने से रोकते हुए भी आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं? उनको अपनी पसन्द के अनुसार गहना और कपड़ा पहनने से रोकते हुए भी क्या आप स्वराज्य पाने के योग्य हैं? उनको उनकी पसन्द का भोजन करने से रोकते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं?' ऐसे ही और बीसियों प्रश्न पूछे जा सकते हैं; परन्तु हमारे मतलब के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। आश्चर्य है कि मिस्टर बनर्जी यदि आज जीते होते, तो उनके पास इनका क्या उत्तर होता! निश्चय ही कोई भी समझदार मनुष्य इनके उत्तर में 'हाँ' नहीं कह सकता। प्रत्येक कांग्रेसी मनुष्य को, जो मिल साहब के इस सिद्धान्त की रट लगाता

है कि एक देश को दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार नहीं, यह भी मानना पड़ेगा कि एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी पर शासन करने का अधिकार नहीं।

तब सामाजिक सुधार दल की हार कैसे हुई? इसको समने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि उस समय सुधारक लोग किस प्रकार के सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन कर रहे थे। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि सामाजिक सुधार के दो अर्थ हैं। एक तो हिन्दू-परिवार का सुधार और दूसरा हिन्दू-समाज की पुनर्रचना और पुनः संगठन। इनमें से प्रथमोक्त का सम्बन्ध विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि से है और शेषोक्त का वर्ण-भेद के मिटाने के साथ। सोशल कान्फ़रेन्स एक ऐसी संस्था थी, जिसने अपना सम्बन्ध अधिकतर हिन्दू-परिवार के सुधार के साथ ही रखा था। इसमें अधिकांश ऊँचे वर्णों के ही हिन्दू थे, जिन्हें वर्ण-भेद को मिटाने के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता का अनुभव ही न होता था या जिनमें इस आन्दोलन को करने का साहस ही न था। उनको स्वभावतः लड़कियों को विधवा रहने पर मजबूर न करने, बाल-विवाह आदि बुराइयों को दूर करने की अधिक ज़रूरत मालूम होती थी; क्योंकि वे उनमें प्रचलित थीं और व्यक्तिगत रूप से उनको दुःख दे रही थीं। वे हिन्दू-समाज के सुधार का यत्न नहीं करते थे। परिवार के सुधार के प्रश्न पर ही सारा युद्ध हो रहा था। जात-पाँत तोड़ने के अर्थों में सामाजिक सुधार के साथ इसका कोई सम्बन्ध न था। सुधारकों ने इस प्रश्न को कभी बीच में आने ही नहीं दिया। यही कारण है, जिससे सामाजिक सुधार-दल हार गया।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विचार कि राजनीतिक सुधार के पहले सामाजिक सुधार का होना आवश्यक नहीं, केवल वहाँ तक ही ठीक है जहाँ तक कि परिवार के सुधार का सम्बन्ध है। समाज के पुनर्निर्माण के अर्थों में सामाजिक सुधार के पूर्व राजनीतिक सुधार सम्भव नहीं, इस बात का खण्डन करना कठिन है। साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स के मित्र और सहकारी फ़र्डिनेण्ड लसले-जैसे विचारक को भी कहना पड़ा है कि राजनीतिक संस्थाओं को सामाजिक शक्तियों पर ज़रूर विचार करना चाहिए। सन् १८८२ में प्रशियन श्रोताओं में भाषण करते हुए लसले (Lassallo) ने कहा था—'शासन-पद्धति-सम्बन्धी प्रश्न (Constitutional questions) मुख्यतः अधिकार के प्रश्न नहीं वरन् शक्ति के प्रश्न होते हैं। किसी देश की वास्तविक शासन-पद्धति का अस्तित्व उस देश में पायी जानेवाली शक्ति की वास्तविक दशा में ही होती है। इसलिए राजनीतिक रचनाओं का मूल्य और स्थिरता तभी होता है, जब वे समाज में कार्यतः विद्यमान् शक्तियों की अवस्थाओं को ठीक-ठीक प्रकट करती हैं।'

परन्तु लसले के पास जाने की आवश्यकता नहीं। हमें घर में ही इसकी साची मिल जाती है। इस साम्प्रदायिक बँटवारे (कम्यूनल अवार्ड) का क्या आशय

है, जिसने राजनीतिक शक्ति को विभिन्न श्रेणियों और समाजों में निश्चित अनुपातों में बाँट दिया है ? मेरी राय में इसका आशय यही है कि राजनीतिक शासन-पद्धति को सामाजिक सङ्गठन का अवश्य ध्यान रखना होगा। यह बँटवारा दिखलाता है कि जिन राजनीतिज्ञों ने इस बात को मानने से इनकार कर दिया था कि भारत में सामाजिक प्रश्न का राजनीतिक समस्या से भारी सम्बन्ध है, उन्हें शासन-विधान तैयार करने में सामाजिक प्रश्न के साथ भी हिसाब चुकाने पर विवश होना पड़ा। कहें तो कह सकते हैं कि साम्प्रदायिक बँटवारा सामाजिक सुधार की उपेक्षा और उसके प्रति उदासीनता दिखाने का फल है। यह सामाजिक सुधार दल की विजय है, जो दिखलाती है कि यद्यपि वे हार गये थे; परन्तु उनका सामाजिक सुधार की महत्ता पर ज़ोर देना ठीक ही था। सम्भव है, अनेक सज्जन मेरे इस परिणाम के साथ सहमत नहीं होंगे। यह विचार लोगों में फैल रहा है और इसे मान लेने में आनन्द भी आता है कि साम्प्रदायिक बँटवारा अस्वाभाविक है और यह अल्प संख्याओं और नौकरशाही (Bureaucracy) के बीच एक अपवित्र सन्धि है।

इतिहास इस बात का समर्थन करता है कि राजनीतिक क्रान्तियों के पहले सदा ही सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियाँ होती रही हैं। लूथर द्वारा जारी किया हुआ धार्मिक संस्कार यूरोपीय लोगों के राजनीतिक उद्धार का पूर्व लक्षण था। इङ्गलैण्ड में प्यूरीटिनिज़्म (Puritinism) राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना का कारण हुआ। प्यूरीटिनिज़्म ने नये संसार की नींव रखी। प्यूरीटिनिज़्म ने ही अमेरिकन स्वतन्त्रता का युद्ध जीता। यह प्यूरीटिनिज़्म एक धार्मिक आन्दोलन था। यह बात मुसलिम साम्राज्य के विषय में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक शक्ति बनने के पहले, हज़रत मुहम्मद उनमें एक पूर्ण धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर चुके थे। भारतीय इतिहास भी इस परिणाम का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त की चलायी हुई राजनीतिक क्रान्ति से बहुत पहले भगवान् बुद्ध धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं द्वारा सामाजिक और धार्मिक सुधार के बाद ही शिवाजी राजनीतिक क्रान्ति ला सके थे। सिक्खों की राजनीतिक क्रान्ति के पूर्व गुरु नानक सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। और अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। यह दिखलाने के लिए इतने ही उदाहरण पर्याप्त हैं कि किसी जाति के राजनीतिक विस्तार के लिए पहले उसकी आत्मा और बुद्धि का उद्धार होना परम आवश्यक है।

• • •

पर-राष्ट्र-नीति

'पर-राष्ट्र-नीति' शीर्षक से अक्टूबर १९३६ की 'सरस्वती' में श्रीयुत राम-मनोहर लोहिया का एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेख से आपने

पर-राष्ट्र-नीति के राजनैतिक रूप का बहुत ही सरल ढंग से विश्लेषण किया है—

'मनुष्य का आपसी रिश्ता उसे कुटुम्ब में इकट्ठा करता है, पंचायत और जाति के नाते में बाँधता है, एक देश, राष्ट्र अथवा राज्य की उसे एकता देता है। कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र का सम्बन्ध काफ़ी मज़बूत सम्बन्ध होता है, इतना मज़बूत कि आदमी सामूहिक फ़ायदे के लिए अपना निजी नुक़सान सहने के लिए राज़ी होता है, कभी-कभी तो जान भी न्योछावर कर देता है।

इन सब सम्बन्धों के अलावा एक और सम्बन्ध है, जिसे हम अक्सर भूल जाया करते हैं। वह है मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध—आदम-जाति का सम्बन्ध। चाहे वह चीनी हो या हिन्दुस्तानी, नीग्रो हो या अँगरेज़, है तो आदमी ही। एक दूसरे के साहित्य, विज्ञान और कला से लाभ उठाने की संभावना है, एक दूसरे के देश की अच्छी बातों का मनन कर खुद और अच्छा बनने की संभावना है, एक दूसरे के गले लगकर सारी दुनिया को शान्तिमय उन्नति की ओर ले जाने की सम्भावना है।

लेकिन यह नहीं हो पाता। अक्सर युद्ध होते हैं। पिछली चार बरस की लड़ाई में तो लगभग एक करोड़ से भी अधिक आदमी मरे और जब गोला और गैस नहीं बरसते रहते तब भी कम-से-कम उनके लिए तैयारियाँ तो होती रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या ख़रीद-फरोख़्त का भी यही उद्देश्य रहता है कि किसी तरह देश की राजनैतिक और फ़ौजी ताक़त बढ़ती रहे, जिससे व्यापार का फ़ायदा कहीं कम न हो जाय। ग़रज़ यह कि आदम-जाति का आपसी सम्बन्ध शान्ति, उन्नति और प्रेम की बुनियाद पर नहीं, बल्कि युद्धमय स्वार्थ पर ही अब तक जमा हुआ है। इसी सम्बन्ध को पर-राष्ट्र-नीति कहते हैं।'

आधुनिक राष्ट्रों की आपसी स्वार्थाश्रित पर-राष्ट्र-नीतियों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में आप लिखते हैं—

'मानवता का सम्बन्ध आज साम्राज्य-ग़ुलाम और युद्धमय स्वार्थ की बुनियाद पर रची हुई पर-राष्ट्र-नीति के कुत्सित रंग में रँगा हुआ है। किस संवत् में संसार इस कलंक को मिटा पायेगा, कहना मुश्किल है; लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है, दुनिया के एक अरब से भी ज़्यादा लोग जाग तो ज़रूर गये हैं, खुद मज़बूत साम्राज्यवादी राष्ट्रों के मज़दूरों और ग़रीबों के ख़ास-ख़ास गिरोह भी इनसे गले मिलना चाहते हैं। कलंक का मिटना अब सदियों का काम नहीं, वर्षों का ही रह गया है। वह समय ज़रूर आवेगा जब मानवता का सम्बन्ध मनुष्य का सबसे बड़ा सम्बन्ध होगा। वह प्रेम, बराबरी, मिलनसारी, मदद और सहानुभूति की भावनाओं को जगावेगा जिसमें, पर-राष्ट्र और पर-राष्ट्र-नीति की गुञ्जाइश न होगी।'

• • •

पुस्तकालयों का मुख्य कर्तव्य

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अक्तूबर के 'विशाल भारत' में एक बड़ा उपयोगी लेख 'पुस्तकालयों का मुख्य कर्तव्य' शीर्षक देकर लिखा है। हम अपने पाठकों के आगे उसे रखते हैं—

लोभ मनुष्य का एक प्रधान शत्रु है। एक बार जब मनुष्य संग्रह करना शुरू कर देता है, तो संग्रह के लक्ष्य को वह भूल जाता है, और उसपर संख्या का नशा सवार हो जाता है। चाहे लोहे के सन्दूक़ में रुपये इकट्ठा करना हो और चाहे सम्प्रदाय का आयतन बढ़ाने के लिए लोक-संग्रह; दोनों ही क्षेत्रों में संग्रह की सनक मनुष्य के मन को बहाव में बहा ले जाती है, घाटपर लगने का उद्देश्य उस अन्धे बहाव में अस्पष्ट हो जाता है—फिर इस बात की याद ही नहीं रहती कि सत्य का सम्मान वस्तु की नाप-तौल में नहीं, बल्कि उसकी यथार्थता में है।

हमारे अधिकांश पुस्तकालयों को संग्रह की सनक सवार रहती है। उनकी बारह-आने पुस्तकें अकसर काम में नहीं आतीं, और काम-आने-लायक़ बाक़ी चार-आने पुस्तकों को वे कोने में ठूँसकर छिपा देते हैं। जिसके पास बहुत रुपया है, हमारे देश में उसे बड़ा आदमी कहते हैं; इसका तो मतलब यह हुआ कि मनुष्यत्व के आदर्श का आधार सम्पत्ति है, न कि उद्देश्य। लगभग इसी एक ही कारण से बड़े पुस्तकालय का गर्व बहुत-कुछ उसकी पुस्तकों की संख्या पर है। उन ग्रन्थों का गौरव तो उनके व्यवहार में आने पर ही निर्भर है; किन्तु अपने अहंकारों की तृप्ति के लिए वह अत्यावश्यक नहीं समझा जाता। हम अपनी सभा में किसी करोड़पती के आनेपर आसन छोड़कर उसका सम्मान करते हैं। आश्चर्य है कि इस सम्मान-प्राप्ति के लिए हम धनी की दानशीलता और उदारता की ज़रूरत नहीं समझते, इसके लिए उसका संचय ही काफ़ी समझा जाता है।

हमारी भाषा में जितने भी शब्द हैं, उनके दो तरह के आधार हैं—एक अभिधान और दूसरा साहित्य। हिसाब लगाया जाय तो हम देखेंगे कि किसी बड़े शब्दकोश में जितने शब्द इकट्ठे किये गये हैं, उनमें से अधिकांश शब्दों का व्यवहार कभी-कदा ही होता है। फिर भी उनका संचय किया जाना आवश्यक है; परन्तु साहित्य में व्यवहृत शब्द सजीव है, उसका हरएक शब्द अपरिहार्य है। यह बात माननी ही पड़ेगी, कि अभिधान की अपेक्षा साहित्य के शब्दों का मूल्य अधिक है।

पुस्तकालयों के सम्बन्ध में भी यही बात है। पुस्तकालय अपने जिस अंश में मुख्यतः संग्रह करता है, उस अंश में उसकी उपयोगिता है; परन्तु जिस अंश में वह नित्य है और विचित्र भाव से जिसका व्यवहार होता है, उस अंश में उसकी सार्थकता है। लाइब्रेरी को पूरी तौर से व्यवहार-योग्य बना डालने की चिन्ता और परिश्रम को लाइब्रेरियन अकसर स्वीकार नहीं करना चाहते। उसका कारण यह है कि

संचय की बहुलता से सर्वसाधारण के मन को प्रभावित करना आसान होता है।

पुस्तकालय को व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि उसका परिचय बिलकुल अस्पष्ट और सर्वांग-सम्पूर्ण हो। नहीं तो उसके भीतर पैठा नहीं जा सकता। वह किसी ऐसे शहर की तरह हो जाता है, जिसमें घर-द्वार तो बहुत हों, पर आने-जाने के रास्ते नदारद!

जो खास तौर से पुस्तकें खोजने के लिए पुस्तकालय में जाते-आते हैं, वे अपनी ग़रज़ से दुर्गम के भीतर ही अपने चलने के लिए पगडंडी बना लिया करते हैं। परन्तु पुस्तकालय का भी तो अपना एक दायित्व है। वह है उसकी सम्पदा का दायित्व। क्योंकि उसके पास पुस्तकें हैं, इसलिए उन पुस्तकों को पढ़ा देने पर ही वह धन्य हो सकता है। उसे अक्रिय होकर खड़ा नहीं रहना चाहिए, वह चाहे तो सक्रिय पाठकों को बुला सकता है कारण, तन्नष्टं यन्न दीयते—जो दिया नहीं जाता, वह नष्ट हो जाता है।

साधारणतः लाइब्रेरियाँ कहा करती हैं—हमारे पास ग्रन्थ-सूची है, स्वयं देख लो, ढूँढ़ लो; परन्तु उनकी तालिका में आह्वान नहीं, परिचय नहीं और न उसकी तरफ़ कोई आग्रह ही है। जिस पुस्तकालय में उसके अपने आग्रह का परिचय मिलता है, वह स्वयं आगे बढ़कर पाठकों का स्वागत करके उन्हें लिवा लाता है। इसी को कहना चाहिए दानशीलता,—इसमें पुस्तकालय का बड़प्पन है—आकृति में नहीं, प्रकृति में। सिर्फ़ पाठक ही पुस्तकालयों को नहीं बनाते; बल्कि पुस्तकालय पाठकों को बनाते हैं।

इस बात को अगर याद रखा जाय, तो समझना चाहिए, कि पुस्तकाध्यक्ष या लाइब्रेरियन का काम बहुत बड़ा काम है। आलमारियों में अच्छी तरह सिलसिलेवार पुस्तकें सजाने और उनका हिसाब रखने से ही उसका काम पूरा नहीं होता। अर्थात् संख्या सम्हालने और विभाग बनाने का जो काम है, वह सबसे बड़ा काम नहीं। पुस्तकाध्यक्ष को ग्रन्थों का ज्ञान होना चाहिए, सिर्फ़ भण्डारी बनने से काम नहीं चल सकता।

परन्तु, पुस्तकालय यदि बहुत बड़ा हो, तो कोई लाइब्रेरियन उसे सत्य और सम्पूर्णरूप से क़ाबू में नहीं ला सकता। इसलिए, मैं समझता हूँ, बड़े-बड़े पुस्तकालय मुख्यतः भण्डार हैं और छोटे-छोटे पुस्तकालय भोजनालय—जो कि रोज़मर्रा के काम में आते हैं, उनसे जीवनीशक्ति मिलती है।

छोटे पुस्तकालय से मेरा मतलब है—उसमें सभी श्रेणी की पुस्तकें रहेंगी, पर एकदम चुनी हुई चोखी-चोखी पुस्तकें। विपुल-कलेवर गणना की वेदी पर नैवेद्य चढ़ाने के काम की एक भी पुस्तक न रहेगी, प्रत्येक पुस्तक अपनी निजी विशिष्टता लिए हुए ही रहेगी। पुस्तकाध्यक्ष भी होंगे यथार्थ साधक और निर्लोभी, आलमारियाँ भरने का अहंकार उन्हें त्याग देना होगा। यहाँ भोज का आयोजन जो-कुछ भी

होगा, सब आदर के साथ पाठकों की पत्तलों में परोसने लायक़ होगा; और पुस्तकाध्यक्ष में सिर्फ़ गोदाम-रक्षक की ही योग्यता नहीं, बल्कि आतिथ्य-पालन की योग्यता होगी।

मान लो किसी पुस्तकालय में अच्छे-अच्छे मासिक पत्र आते हैं, कुछ देश के और विदेश के। अगर पुस्तकालय के जाँच-विभाग का कोई व्यक्ति उनमें से ख़ास-ख़ास पढ़ने लायक़ लेखों को यथायोग्य श्रेणियों में विभक्त करके उनकी सूची बनाकर वाचनालय के द्वार के पास लटका दे, तो उनके पढ़े जाने की सम्भावना निश्चित रूप से बढ़ सकती है। नहीं तो उन पत्रिकाओं का बारह-आना हिस्सा बिना-पढ़ा रह जायगा, और उससे पुस्तकालय का ढेर ही ऊँचा होगा और भार बढ़ेगा। नई पुस्तक आने पर, बहुत थोड़े ही लाइब्रेरियन ऐसे मिलेंगे जो उससे स्वयं परिचित होकर पाठकों को उसका संक्षिप्त परिचय देने का तरीक़ा अख़्तियार करते हों। होना यह चाहिए कि किसी भी विषय पर अच्छी पुस्तक आते ही उसकी घोषणा हो जाया करे।

उसकी घोषणा किनके सामने होनी चाहिए? विशेष पाठकों के सामने। प्रत्येक पुस्तकालय में उसके अन्तरंग सभ्य-रूप में एक विशेष पाठक-मण्डली रहनी ही चाहिए। वह पाठक-मंडली ही पुस्तकालय को प्राण देती है। पुस्तकाध्यक्ष यदि ऐसी मण्डली को बना सके और उसे आकृष्ट करके रख सके, तभी उसकी कार्य-कारिता समझनी चाहिए। इस मण्डली के साथ पुस्तकालय का अन्तरंग सम्बंध क़ायम करने में लाइब्रेरियन मध्यस्थ का काम करेगा। अर्थात् पुस्तकाध्यक्ष पर सिर्फ़ पुस्तकों का ही भार नहीं, बल्कि पुस्तक-पाठकों का भार भी होना चाहिए। इस तरह दोनों की रक्षा करते हुए ही पुस्तकाध्यक्ष अपना कर्तव्य पालन कर सकता है और अपनी योग्यता का भी परिचय दे सकता है।

पुस्तकाध्यक्ष जिन पुस्तकों का संग्रह कर सका है, सिर्फ़ उन्हीं के सम्बन्ध में उसका कर्तव्य सीमित नहीं है। उसे मालूम रहना चाहिए, कि ख़ास-ख़ास विषयों की, अध्ययन करने-लायक़ कौन-कौन सी मुख्य पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं। एक बार शान्तिनिकेतन-विद्यालय में बच्चों के पढ़ने-योग्य पुस्तकों की ज़रूरत हुई। इस विषय में नाना स्थानों से पता लगाकर मुझे पुस्तकें चुननी पड़ीं। प्रत्येक पुस्तकालय को चाहिए, कि वह ऐसे काम में सहायता करे। ख़ास-ख़ास विषयों में जिन पुस्तकों ने पिछले दो सालों में प्रसिद्धि पाई हो, ऐसी पुस्तकों की सूची अगर पुस्तकालय में तैयार रहे, तो एक अत्यावश्यक कर्तव्य पूरा हो सकता है। अगर कोई पुस्तकालय इस विषय में अपनी ख्याति प्राप्त कर सके, तो पुस्तक प्रकाशक भी अपनी ग़रज़ से उनके पास अपनी पुस्तकों की सूची और परिचय भेज सकते हैं।

उपसंहार में मेरा वक्तव्य यह है, कि अखिल-भारत-पुस्तकालय-परिषद की तरफ़ से ऐसी एक तिमाही, छमाही या वार्षिक पत्रिका निकलनी चाहिए, जिसमें और नहीं, तो कम-से-कम अंगरेज़ी भाषा में विज्ञान, इतिहास, साहित्य आदि विषयों

की जितनी भी अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुआ करें, उन-सब का यथासम्भव विवरण प्रकाशित हुआ करे।*

देश-भर में सर्वत्र पुस्तकालय स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन देना हो, तो उनके संयोजकों को यह भी बता देना चाहिए, कि उन पुस्तकालयों में कौन-कौन से ग्रन्थ संग्रह करने चाहिए; और इस काम में हर तरह से सहायता पहुँचाना उक्त परिषद का कर्तव्य होना चाहिए।

इस निबन्ध में मैंने जो बात कहनी चाही है, संक्षेप में वह यह है, कि पुस्तकालयों का मुख्य कर्तव्य है पुस्तकों के साथ पाठकों का सचेष्ट भाव से परिचय करा देना, पुस्तकों का संग्रह और उनकी रक्षा उनका गौण कार्य है।

—अनुवादक श्री धन्यकुमार जैन

अँग्रेज़ी

ईश्वर की सत्ता को हम कैसे जानते हैं

स्वर्गीय रेवेरेन्ड श्री जे० टी० सन्डरलैंड ने एक बहुत ही भावपूर्ण तथा गहराई तक पहुँचा हुआ लेख, 'हम कैसे जानते हैं कि ईश्वर है', अक्तूबर १९३६ के Modern Review में प्रकाशित हुआ है। इस लेख से अवश्य ही हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है कि ईश्वर है; और यह बात तो केवल विश्वास की ही है।

नास्तिक कहते हैं ईश्वर है ही नहीं। तत्ववादी भी वही कहते हैं। कुछ जीववादी भी वैसा ही कहते हैं। यह सब ठीक ही न हों? हम यह कैसे जानते हैं कि ईश्वर विषयक हमारे समस्त विचार और उसके अस्तित्व पर जो हमारा विश्वास है वह हमारी आशा, औत्सुक्य एवं अभिलाषा के ही आविष्कार मात्र नहीं हैं? आस्तिक इन सब प्रश्नों के विभिन्न उत्तर देता है जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

मनुष्य का विचार-शील मस्तिष्क इस बात की खोज में रहता है कि उस विश्व का जिसमें वह अपने को पाता है और स्वयं अपनी सत्ता का सबब और मतलब मालूम करे। आस्तिक का विश्वास है कि मानव शक्ति से उच्चतर शक्ति के मानने से ही दोनों का समाधान सम्भव है।

जिसकी मृत्यु महायुद्ध की एक दुखद घटना थी, ऐसे एक प्रतिभाशाली युवक-कवि ने संसार को निम्नलिखित पंक्तियों में एक सुन्दर कविता दी—

---

* यही बात राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में भी कही जा सकती है। ऐसा होने से हिन्दीवालों को शुद्ध मानसिक भोजन आसानी से पहुँचाया जा सकता है, इस तरह पाठकों की रुचि भी अच्छी दिशा में मोड़ी जा सकती है। फ़िलहाल इस काम का भार चालू पत्र-पत्रिकाएँ भी ले सकती हैं। —अनुवादक

मुझसे मतिमन्द कविता रचते हैं,
पर वृत्त केवल ईश्वर ही रच सकता है।

इसमें हमें आस्तिकवाद गागर में सागर की भाँति भरा मिलता है।

आस्तिक विश्वास करते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके असंख्य कार्यों का ज्ञान ही अपने अस्तित्व-ज्ञान के सिवा मनुष्य का सबसे अधिक निश्चित ईश्वर-ज्ञान है। इस विश्वास के कारण प्रकट ही हैं। वस्तु स्वभाव ही के विषय में मेरी स्वविषयक और स्वसत्तात्मक धारणा है कि 'मैं हूँ'। मेरा दूसरा निश्चित ज्ञान कुछ अन्य वस्तु की सत्ता के विषय में है कि 'कुछ और है'—बड़ी भारी-सी सर्व सम्पन्न कुछ चीज़, एक वातावरण, एक बाह्य जगत्, कोई ऐसी चीज़ जो मेरे स्थलपर आने के पहले भी और जो कहीं भी जाने पर मेरे सामने ही रहती है, जिसपर मैं प्रतिक्षण निर्भर रहता हूँ, जिसके विषय में मैं इसलिए अधिक जान सकता हूँ कि उसमें मेरी प्रवृत्तियों की प्रतिवृत्ति है। यदि प्रकृति में मेरे भावों को उत्तर देने की प्रवृत्ति न होती, यदि प्रकृति में शून्यता और विग्रह के अतिरिक्त और कुछ न होता तो मैं उसके विषय में कुछ न जान सकता; दूसरे शब्दों में, मैं कुछ भी न जान सकता। उस सर्वव्यापी महान् शक्ति को ही विज्ञ आस्तिक कहते हैं जो कि अन्यथा अज्ञेय-विग्रह को एक मनोरञ्जक विश्व में परिवर्तित करती है, जिसका संस्पर्श मनुष्य की सुप्त भावना को जाग्रत करता है। इसलिए यह अस्वीकार करने के योग्य नहीं है, कि मेरी सत्ता के पश्चात मेरा सब से निश्चित ज्ञान ईश्वर की सत्ता का है और अत्यधिक यह कि वह ही सब कुछ करता है।

कोई सन्देह नहीं करता कि मैं जीवों की, अपने परिवार, अपने पड़ोसी तथा मित्रों की सत्ता के विषय में निश्चय ही जानता हूँ और बहुत अधिक निश्चय से कि वे जानते हैं। परन्तु वास्तव में मुझे ईश्वर की सत्ता का उससे अधिक विश्वास है जितना कि मुझे अपने परम मित्र का हो सकता है। यह सत्य है कि मैं ईश्वर को नेत्रों से नहीं देख सकता; पर मैं अपने मित्र को नेत्रों से नहीं देख सकता—अपने उस सच्चे मित्र को जो कि सोचता और जानता है और स्नेह करता है और जिसके साथ में मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है, उसको हम उसके कार्यों से जानते हैं। वह सदैव कार्य करता रहता है जिनका विवरण कर्ता को बिना माने नहीं दिया जा सकता—वह कर्ता, मेरे मित्र! वर्तमान हैं।

किन्तु हमारे मित्र से दस हज़ार गुना काम प्रकृति करती है, जिसमें एक का भी विवरण कर्ता को बिना माने नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि मैं कहता हूँ कि मेरे पास मेरा मित्र विद्यमान है, यह कहने से अधिक प्रमाण इसके हैं कि प्रकृति के हृदय में शक्ति (ईश्वर) विद्यमान है।

आस्तिक और अनास्तिकवाद के सबसे बड़े कारण आज कदाचित् ईश्वर की हमारी व्याख्या तथा नाम हैं।

अस्तित्व के आरम्भ से ही मनुष्य ने एक रहस्यमय और महान् शक्ति—जो उसके आसपास सर्वत्र ही व्यापक है और जिसपर उसका जीवन ही निर्भर है—निश्चय ही वह उसके विषय में अधिक जानने और उसकी व्याख्या करने का सदैव प्रयत्न करता रहा। कदाचित् मनुष्य मात्र से महान् और आश्चर्यजनक किसी ऐसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान, तद्विषयक अधिक ज्ञानार्जन का सतत उद्योग एवं उसकी व्याख्या के प्रयत्न ही उसके जीवनधारी प्राणियों से श्रेष्ठ और मनुष्य होने के कारण रहे हों। उसके अन्वेषण ही केवल सफल नहीं रहे प्रत्युत उसके व्याख्या-विषयक उद्योग भी सफल रहे। वे सब उसके विचार की वृद्धि में और उसके जीवात्मा एवं ईश्वरवाद की उन्नति में सहायक रहे। उसकी भूल रुकने की इच्छा में है, उसके सरल निष्कर्ष में है कि उसने अन्त पा लिया, उसने सब कुछ मालूम कर लिया, उसकी व्याख्या और विवरण सम्पूर्ण और अकाट्य हैं और विशेषतः उसका निष्कर्ष कि जो दूसरे लोगों ने पता लगाया है और उनकी व्याख्या व विवरण ग़लत एवं धूर्तता पूर्ण हैं।

ईश्वर के विषय में ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए चार बातों की ज़रूरत साफ़ दिखाई देती है—(१) उसके विषय में समस्त या लगभग सब ही व्याख्याएँ या विवरण सत्य और अमूल्य सत्य हैं। (२) ये सब विवरण अपूर्ण और अत्यन्त सूक्ष्म हैं क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व सीमित नहीं है। (३) धार्मिक विचारकों का कर्तव्य है कि खुले मस्तिष्क से उच्चतर, अधिक सत्य एवं सुन्दरतर विचारों की खोज करें। (४) और ईश्वर के विषय में दूसरे लोगों के जो विचार हैं उनकी सब अच्छाइयों को स्वीकार करें।

कुछ लोग हैं जो ईश्वर के अनेक भिन्न-भिन्न नामों एवं विचारों पर आश्चर्य करते हैं। उनसे उन्हें कष्ट होता है और यहाँ तक कि वे दावा करते हैं, कि उन्हें उस दैवी सत्ता की वास्तविकता में सन्देह है ; पर आश्चर्य या सन्देह क्यों होना चाहिए ? अनेकों क्यों हैं ? इसका विवरण तो सीधा है। परमात्मा असीम है, हम सीमित हैं। सीमित असीमित को पूर्णतः जानने में अशक्य है। वह इसकी झलक ही पा सकता है ; पर हमारे पास यह विश्वास करने के असंख्य कारण हैं कि इन झलकों में अनेक सत्य हैं और जैसे-जैसे मनुष्य बुद्धि और ज्ञान में उन्नति करता जाता है वैसे-ही-वैसे इनमें से बहुसंख्यक सत्य होती जा रही हैं। महान् होने के कारण ही प्रत्येक महान् वस्तु के विभिन्न महान् विवरण हैं ; पर कोई भी समझदार मनुष्य इनकी संख्या से उसकी सत्ता पर सन्देह का स्वप्न नहीं देखता। घर की, सरकार की, जीवन की, और प्रेम की असंख्य विभिन्न व्याख्या हैं। यह अनेकों व्याख्या महती वास्तविकता की साक्षी हैं और हमें वास्तविकता के मूल्य या महानता में बढ़ी हुई अन्तर्दृष्टि देती हैं। यह विश्वास करना पागलपन है, कि प्राणिमात्र के आरम्भ से मनुष्यों की पीढ़ियाँ ऐसी वस्तु की व्याख्या या विवरण देने का प्रयत्न करती आ रही हैं, जो है ही नहीं।

मनुष्य के ईश्वर-विषयक विभिन्न वर्णन, व्याख्याएँ तथा नाम इस बात के बिल्कुल उलटे मानी रखते हैं कि ईश्वर नहीं है। उनका तात्पर्य है कि वह महान् शक्ति जिसको वे वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं, इतनी विशद और अनेक-रूप है कि निश्चय ही बहुत से लोगों द्वारा प्राप्त प्रकाश, ज्ञान के कण, विभिन्न होंगे। प्रत्येक प्रकाश-किरण, प्रत्येक ज्ञान-कण सम्पूर्ण की समता में अत्यन्त सूक्ष्म है; परन्तु प्रत्येक ही सम्पूर्ण का भाग होने के नाते, अनन्त-सत्य का क्षीण प्रकाश के होने के नाते असीम मूल्यवान् है।

ईश्वर विषयक यह सब विचार क्या सत्य नहीं हैं? क्या वे सब अनन्त के सन्देश नहीं हैं? क्या वे विश्व के सम्पूर्ण एवं सर्वव्यापी धार्मिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं?

ईश्वर के इन सब नाम, विवरण, व्याख्या एवं वचन का क्या मूल्य है? जैसा कहा गया है कि आस्तिक विश्वास करता है कि वे अनन्त शक्ति के क्षीण किन्तु सत्य प्रकाश हैं। कम-से-कम ईश्वर की महानता के देखने में वे हमें सहायक होते हैं। सबसे अधिक वे हमें यह समझने में सहायक होते हैं कि 'वह' कितने प्रकार से हमारे समीप आता है और हमारे गम्भीर मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। हमारे पास ईश्वर के बहुत से नाम नहीं हैं। हमें और अधिक की आवश्यकता है; और हमें अधिकाधिक मिलते रहेंगे, जब तक कि मनुष्य की मानसिक व जीवात्मा सम्बन्धी उन्नति रुक कर अधःपतन की ओर अग्रसर न होने लगे।

नीर-क्षीर

वचन का मोल *

हिन्दी गल्पलेखन में श्रीमती उषादेवी मित्रा ने अपना एक स्थान बना लिया है। उनकी शैली उनकी अपनी ही है, भाव प्रवणता में भी वह सिद्धहस्त हैं। 'वचन का मोल' उनका उपन्यास है। पहला होने पर भी उन्होंने इसे उत्कृष्ट रूप से चित्रित किया है। पूरा उपन्यास पढ़ जाइए—आपके मस्तिष्क पर किसी प्रकार का भार ही नहीं पड़ सकता। प्रत्येक पृष्ठ पढ़ने के बाद दूसरा पृष्ठ पढ़ने के लिए आप उत्सुक हो उठेंगे।

उपन्यास आधुनिक-शिक्षित समाज को लेकर लिखा गया है। इसमें उनके रहन-सहन, आहार-व्यवहार तथा आधुनिक शिक्षागत परिवर्तन का चित्रण है। कथानक उपन्यास की प्रधान पात्री 'कजरी' से आरम्भ होता है। वह एक कॉलेज की छात्रा है। उसके माता-पिता भी पढ़े-लिखे हैं; किन्तु दोनों का मत प्रतिकूल है। पिता की शिक्षा है—'इंग्लिश क़ायदे से सभी के साथ स्वतंत्रता से मिलो; हँसी, खेल, आनंद, स्वार्थ आदि को ही बृहत् रूप से देखो, पहचानो; दूसरों के दुःख, दर्द, कष्ट को तुच्छ समझो; अपनी कमी अभाव, प्रयोजन को आदर्श मानो और लज्जा-शर्म छोड़ कर बच्चों के हाथ का खिलौना याने खेलने की गुड़ियाँ बनी रहो।' किन्तु माता की दिशा ही दूसरी है। उसका मत है—'कैसा ही छोटा काम क्यों न हो, उसकी अवहेलना न करनी चाहिए। छोटी-छोटी बातों से ही हमारा स्वभाव बनता है। छोटे-छोटे कार्यों की अवहेलना करने से क्रमशः यह अभ्यास-सा हो जाता है। उस स्थिति में उचित कर्तव्यों की भी अवहेलना हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी ज़िन्दगी में सार्थकता नहीं। आदमी के 'वचन का मोल' सदा याद रखने की वस्तु है।' यही माता की शिक्षा बाद में कजरी के जीवन का आदर्श बन जाती है। जिस कजरी को आरम्भ में आप उद्धत स्वभाव देखते हैं उसमें बाद में कितना विनयभाव, सेवावृत्ति, देशप्रेम एवं क्रियात्मक आदर्श आ जाता है! इन सब के होते हुए भी कजरी मानवी ही है। कहीं भी आप यह न पा सकेंगे कि उसका चित्रण ऐसा हो पाया हो जो असम्भव कहा जा सके। कजरी की माता का उपदेश—'वचन का मोल' ही सदा याद रखने

* वचन का मोल, लेखिका श्रीमती उषादेवी मित्रा, प्रकाशक, सरस्वती-प्रेस बनारस, १९३९। मूल्य १)

की वस्तु है—उसके जीवन की एक तपस्या हो गई और इसी प्रकार पुस्तक का सार्थक शीर्षक भी। कजरी के पिता बैरिस्टर बारीन घोष कजरी को बिलकुल 'मॉडर्न' बनाना चाहते हैं; पर वह अपनी माता के आदर्श पर ही चलती है।

सरोज निखिल और विनय तीनो ही विलायत से शिक्षा प्राप्त कर भारत आये। सरोज और निखिल ने तो एक खादी-आश्रम खोला पर विनय बैरिस्टर है। कजरी विनय से स्नेह रखती है पर सरोज कजरी को चाहता है। कुछ दिनों पश्चात् सरोज बीमार पड़ता है और कजरी के विवाह की अपनी प्रच्छन्न-लालसा को प्रकट करता है। रोगाक्रान्त है, मृत्यु के समीप है, फिर भी वह नहीं चाहता कि कजरी दूसरे की पत्नी हो। वह अपनी इस स्वार्थान्धता को समझता है फिर भी मरने के पीछे भी उसे यह सह्य नहीं है। लेखिका ने इस भाव के प्रकृत-चित्रण में कमाल किया है।—कजरी के करुण हृदय को हम यहाँ देखते हैं। वह सरोज को नहीं चाहती—पति-रूप में उसे ग्रहण नहीं कर सकती, फिर भी उसका हृदय इतना उन्नत है, सहानुभूतिपूर्ण है कि वह एक मरणासन्न के हृदय को दुःख नहीं पहुँचाना चाहती। सरोज के लिए वह आजन्म-कौमार्य-व्रत की भीष्म प्रतिज्ञा करती है। उसे विवाह न करने का वचन देती है। इसके पश्चात् कजरी का जीवन एक तपस्वी-जीवन हो जाता है। वह प्रेम करती है, अनुभव करती है फिर भी वह वचन के मोल को समझती है।

उषादेवी ने जिस प्रकार कजरी को आदर्श मानवी चित्रित किया है उसी भाँति उसके प्रतिकूल मनिका को पढ़ी लिखी होने पर भी अंग्रेज़ियत में दिखाया है। वह कजरी यदि अपनी माता की स्वभावानुगामिनी है तो मनिका का स्वभाव भी उसकी माता के ही अनुसार दिखाया गया है। भारतीय गार्हस्थ्य जीवन को वह गँवारपन समझती है—पढ़ लिख कर गृहस्थी उसके लिए उपहासास्पद है।

श्रीमती उषादेवी की शैली अन्य लेखकों से भिन्न है और वह बंगला शैली से मिलती-जुलती है और वह इस कारण कि वे स्वयं एक बंगाली महिला हैं। हिन्दी में काफ़ी कहानियाँ लिखने के बाद भी वे अपनी भाषा से बंगालीपन अलग न कर सकीं और शायद यही कारण हो कि वे अपनी इस ही भाषा के कारण अपनी रचनाओं को सुन्दर-हृदयग्राही बनाने में समर्थ हो सकी हों। फिर भी उनके कुछ प्रयोग तो सचमुच ही ऐसे हैं जो मतलब को साफ़ नहीं कर सके और ऐसे प्रयोगों को लेखिका को दूर करना ही चाहिए। मैं दो-चार ऐसे उदाहरण देता हूँ जो इस पुस्तक में हैं।

पृष्ठ ३ पंक्ति ६—तब उसे स्वप्न हो जाता क्या?

पृष्ठ ३३ ... ५—चेतला के पथ में मोटर की गति ह्रास हुई।

पृष्ठ ४६ ... १२—समवेत कंठ के सादर सम्बर्द्धना में लजाती हुई वह विनय की बाज़ू में बैठ गई।

पृष्ठ ५६ पंक्ति १७—आप हँसते हैं ; पर मुझे तो आग लग गई।

पृष्ठ १७५ ... ३—द्विविधा संकोच की समाधि हुई।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे ही प्रयोग हैं, जिनसे अर्थ अस्पष्ट हो जाता है। बंगाली होने के कारण लेखिका को लिङ्गभेद में भी कई स्थलों पर भ्रम हो गया है, यथा—माता की आसन, नाक से रूमाल लगा ली आदि। (मेरे विचार से आसन और रूमाल दोनों ही पुलिङ्ग हैं।)

पुस्तक का आकार-प्रकार देखते हुए वह सस्ती है। आज-कल इस कोटि के उपन्यास हिन्दी में इतने सस्ते मूल्य में कम ही मिलते हैं। पुस्तक की छपाई साफ़-सुथरी है। हमारी धारणा है कि भविष्य में श्रीमती मित्रा और भी सुन्दर भेंट हिन्दी को देंगी।

—ज्ञ०

हंस-वाणी

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द का स्मारक

[श्री प्रेमचन्द के स्वर्गवास पर जो उनके प्रति श्रद्धा और मेरे प्रति समवेदना का प्रकाश भारत भर में हुआ है उससे मैं बहुत प्रभावित हूँ। मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरा दुःख सचमुच बँट गया है और मुझे बल मिला है। मैंने पाया, जो मेरा था वह सबका भी था। मुझे इसका अनुमान पहले नहीं था। मैं जानती हूँ, तब मैं भूलती थी। प्रेमचन्द यदि मेरे सब कुछ थे, तब और बहुतों के बहुत कुछ थे। मेरी सम्पत्ति नहीं थे, स्वयं में विभूति थे। मैं आज मान कर भी नहीं मान सकती कि वह परिवार के ही लिए रहे। ऐसा होता तो क्यों उनके अभाव पर हिंदी-संसार बिलखता और उमड़ता। इसलिए उन सज्जनों को जिन्होंने मेरी और मेरे परिवार की सहायता की आवाज़ उठाई है और उन मित्रों को जिन्होंने द्रव्य के रूप में सहायता भेज भी दी है, मैं प्रणाम करती हूँ और क्षमा माँगती हूँ। ऐसे द्रव्य में मेरी स्वत्व-बुद्धि नहीं हो सकेगी। जिसके लिए प्रेमचन्द जिये, और जीना चाहते रहे वह काम तो समाप्त नहीं हुआ है। न वह काम छोटा है। उसके लिए तो बड़ी-से-बड़ी सहायता भी बड़ी नहीं होगी। मैं विश्वास दिलाती हूँ कि उस सब सहायता की और उससे ज्यादा की भी जरूरत होगी। चारों तरफ़ से स्व० प्रेमचन्द के स्मारक की माँग हो रही है। इस बारे में श्रीजैनेन्द्रकुमार ने एक विचार हिन्दी-संसार के सामने रक्खा है, जो नीचे प्रकाशित किया जाता है। वह विचार है, योजना नहीं। मैं उससे सहमत हूँ। जैनेन्द्रकुमार के लिए स्व० प्रेमचन्दजी के हृदय में बहुत अपनापन था। मुझे उनमें विश्वास है। मैं चाहती हूँ, वह विचार योजना का रूप ले ले और कार्यान्वित हो चले। उसमें दो बातों का ध्यान रखना है। एक यह कि प्रेमचन्दजी की साहित्य-कला की प्रकृति में प्रांतीयता नहीं थी और वह संप्रदायातीत भी थी; अतः योजना सम्प्रदाय और प्रान्त से ऊँची हो। दूसरे, प्रेमचन्दजी का प्रकाशन और व्यक्तीकरण मूल में दो माध्यमों से हुआ—हिन्दी और उर्दू से। इसकी भी योजना में रक्षा होनी चाहिए। मेरा निवेदन है कि इस ओर अधिकारी लोग ध्यान दें।—

—शिवरानी देवी।]

प्रेमचन्द को अभी हाल में हिन्दी ने और हिन्दुस्तान ने खो दिया है। हिन्दुस्तान की वह विभूतियों में से थे। हिन्दी के तो सिरताज ही थे; लेकिन शायद उनके मूल्य को जानने के लिए हमें उनके अभाव की प्रतीक्षा थी। वह उठ गये तब हमने जाना कि हमसे क्या छिन गया।

जहाँ-जहाँ हिन्दी या उर्दू का पढ़नेवाला है वहीं इस वक्त ऐसा मातम होगा, जैसे कोई अपना सगा अभिभावक न रहा हो; पर प्रेमचन्द चाहे लिखते हिन्दी या उर्दू में हों, उनकी ख्याति और लोकप्रियता इन भाषा के क्षेत्र में परिमित न थी। भारत के बाहर भी उनकी वाणी पहुँची थी। इस तरह समस्त भारत ही उनके अभाव पर चिन्तित है।

मेरा उनका तो बहुत घना नाता हो गया था। लगभग उनके परिवार का ही मैं अंग था और हूँ। वहाँ घर में दूर-दूर कोनों से लोगों के शोक और समवेदना भरे तार और पत्र आ रहे हैं। वह शोकाकुल हैं। और वे व्यग्र और आतुर हैं यह जानने के लिए कि वे किस भाँति स्वर्गीय आत्मा के प्रति अपना ऋण चुकाने में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार के अनगिनत पत्र आ रहे हैं। कुछ लोगों ने तो कृतज्ञता की विवशता से ख़ासी रक़में भी श्रद्धा समर्पण के नाते भेजी हैं। जगह-जगह लोग प्रेमचन्द की स्मृति को क़ायम करने की योजनाएँ सोचने और बनाने में लगे हैं। प्रेमचन्द के निधन ने जैसे लोगों की आत्मा को छू दिया है और वे अपने कर्तव्य के प्रति जग उठना चाहते हैं। यह देखकर जी आवेग से भर आता है; पर यह देखकर भविष्य के सम्बन्ध में जी आशा और विश्वास से भी भर आता है। जो भगवान ने किया वह किया; हुआ अन हुआ नहीं हो सकता; पर प्रेमचन्द का मूल्य देकर अगर लोग उनके प्रति अपने धर्म में जग उठते हैं, तो प्रेमचन्द की आत्मा अपने को सफल समझेगी।

मैं उन सौभाग्यशालियों में हूँ जिन्हें अन्त समय में प्रेमचन्द ने याद किया। इसी से आज मेरा अभाग्य भी निविड़ हो गया है। मैं उनके घनिष्ट परिचय में आया। मौत की घड़ी तक अगर उन्होंने चिन्ता की, बात की, तो साहित्य में सदुद्योग की और उसके भविष्य की। मैंने अपने सामने प्रेमचन्द को मरते देखा है और इन पिछले ७-८ वर्षों में उन्हें एक सच्चे खरे आदमी की भाँति जीते भी मैंने देखा है। और मैं अनुभव करता हूँ कि हमारी अश्रद्धा उन्हें खा गई और जिस हद तक हम श्रद्धा अपने में ला सके उतना ही हमसे उन्हें सुख मिला।

पर ध्यान रहे, श्रद्धा उनके निज के प्रति नहीं। हमारे मान-सम्मान के लिये तो उनके जी में स्पृहा थी ही नहीं। उसकी उन्हें ज़रूरत न थी। उसे उन्होंने न कभी चाहा, न अपनाया। बल्कि उससे कुछ बचते ही रहे; पर

जिस तत्व की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने अपनी रचनाएँ रचीं, जिसकी साधना के लिये वह रहना चाहते रहे और जीना चाहते रहे—उस तत्व के प्रति हमारी श्रद्धा ही उनका एकमात्र मानसिक भोजन थी, और हमारी अश्रद्धा वेदना।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी-संसार ने जब सराहना की, प्रशंसा की, तब उन वस्तुओं की की जिनका उनके निकट क्षीण मान था। उन्हें अपनी परवाह न थी। लिखने की ग़रज़ से लिखने की परवाह न थी; पर हमने किया तो उनका सम्मान कर दिया और प्रशंसा की तो उनके लिखने, उनकी शैली और भाषा की प्रशंसा कर दी। मैं जानता हूँ हमारी यह वृत्ति उनको मात्र ऊपर से छूती थी और उनका अन्तस्तल भूखा रहता था। वह भोजन, जो उन्हें भोजन होता, हम नहीं दे सके।

उनका साहित्य किस बल के कारण प्रबल है? वह किस सचाई से सच्चा और किस संस्कार से परिष्कृत है? क्या हम यह जानेंगे? समझेंगे?

वह मानव और मानव के सम्बन्ध सहज और स्निग्ध देखना चाहते थे। वह अहंकार के शत्रु थे। वह द्विमुखी नीति के विरोधी और कदाचित् शिकार थे। वह समाज में स्वार्थ-शोध की जगह सेवा-परायणता चाहते थे। वह दम्भ को प्रश्रय नहीं देना चाहते थे। वह देखते थे, संसार की विभूति अधिकांश मानव को स्व-रत और अनुपयोगी बनाती है। वह मानव को दैवी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वह विश्वासी थे और मानव में सत्य को और मंगल को खोजना चाहते थे।

इसी लगन ने उनके साहित्य को साहित्य और उनके नाम को श्रद्धेय बनाया है। नहीं तो क्यों हम अपने को उनका ऋणी मानकर भी कृतार्थ अनुभव करते हैं?

तब उनका सच्चा स्मारक वह होगा और वही होना चाहिए जो उसी लक्ष्य को अपना लक्ष्य और उसी निष्ठा को अपनी निष्ठा बनावे। आज हिन्दी पर एक कोहरा छा रहा है। विविध प्रकार का असत् और अहम् उसे जकड़े हुए है। मैं प्रेमचन्द के जीवन की सन्ध्या और उस जीवन के निर्वाण को आँखों आगे देखता रहा हूँ और कहता हूँ कि वह इस विषम जकड़ को तोड़ना चाहते रहे; उसके भीतर छटपटाते रहे; नहीं तोड़ सके, नहीं तोड़ सकें; और अन्त में योद्धा की भाँति ठंडे हो गये!

वही काम अब ऋण की भाँति, धरोहर की भाँति हमारे ऊपर है। उनके स्मारक का पहला धर्म और अन्तिम धर्म वही है और वह काम महान् है।

प्रेमचन्द की याद के प्रति लोगों में जो उद्यतता और प्रस्तुतता है, उस पर काफी ज़िम्मेदारी आ गई है। मैं चाहता हूँ कि एक सुसंघटित योजना बने।

प्रेमचन्द के प्रेमियों को अवसर मिले कि जो काम करते-करते प्रेमचन्द छोड़ गये उसे आगे बढ़ाने में वे भी अपने उत्सर्ग का योग दें। और मैं चाहता हूँ तब जानता भी हूँ कि वैसी योजना आज नहीं तो कल बनेगी ही। काम वही है। और सत्य की सेवा का व्रत ही जीवन है। वह भावना जगानी होगी, और उस भावना से प्रेरित व्यक्तियों को सूत्रबद्ध करना होगा, जो साहित्य को स्वच्छ, समर्थ और स्निग्ध बनाएँगे।

राजनीतिक और सामाजिक कार्य के क्षेत्र में ऐसी संस्थाएँ हैं। गोखले की 'सर्वेंट्स ऑव इण्डिया सोसाइटी' है, 'गांधी सेवा संघ' है, लाजपतराय की 'सर्वेन्ट्स ऑव पीपुल्स सोसाइटी' है। साहित्य में ऐसी संस्था कोई नहीं है। क्या इसलिए कि साहित्य क्षेत्र कम महत्त्ववान है? नहीं, इसलिए नहीं। प्रत्युत कदाचित् इसलिए कि ऊपर के तीनों कर्मण्य और समर्थ पुरुषों का कार्यक्षेत्र भिन्न रहा और साहित्य उनकी आत्मसिद्धि का मार्ग न था। यों साहित्य को स्थूल कर्म से अधिक दायित्व वहन करना पड़ता है। और इस दृष्टि से साहित्य की यह क्षति, यह त्रुटि और भी चुभती है।

मेरा निवेदन है कि इस संबंध में अब हम सोते नहीं रह सकते और कुछ-न-कुछ शीघ्र करना ही होगा।

—जैनेन्द्रकुमार।

प्रेमचन्दजी

इसी ८ अक्तुबर को प्रेमचन्दजी का स्वर्गवास हो गया। हिन्दी के लोग उन्हें साहित्य-सम्राट कहते थे और अपना सर्वश्रेष्ट कलाकार मानते थे। उनके जीवनकाल में उनके साहित्य पर समीक्षा-पुस्तकें निकली थीं; हिन्दुस्तान की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद निकले थे, कई विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद हुए थे, उनकी कृतियाँ भारत के प्राणों में बस गई थीं और उनका नाम जनता में श्रद्धा के भाव जगाता था।

यह तब जब भारत परवश था और हम पर अँगरेज़ियत बेतरह छाई थी। भारत कुछ और होता, अपने को और अपनों को जानने के लिए कुछ आज़ाद होता, तो शायद इतने पर भी संतुष्ट न रहता, प्रेमचन्द को अपने प्राणों में और गहरे लेने को और अधिक सम्मानित करने को बढ़ता ही; क्योंकि प्रेमचन्द शैलीकार न थे, साहित्यकार थे और वह भाषा नहीं लिखते थे, अपनी वेदना लिखते थे। इसी से पंडित से पहले जनता ने उन्हें अपनाया और आचार्य से पहले नागरिक ने उन्हें समझा। प्राणों का उत्सर्ग देकर उन्होंने भाषा और भारत को संस्कार दिया। साहित्य में वह साधक थे। उस साधना में व्यावहारिक नीतिज्ञता को बहुत हद तक उन्होंने बलि हो जाने

दिया। कई जगह वह चतुर होने से बचे। सामाजिकता में ऊँचे चढ़ने से वह इनकार करते रहे। साधारण बल्कि निम्न श्रेणी के समकक्ष बने रहने में ही वह सचेष्ट दीखे। वह निर्धन थे और कभी धनिक नहीं हुए, मानों निर्धनता उनका व्रत थी। उन्होंने अपने को सदा मज़दूर गिना और माना। कुछ संचय अथवा संचय की चिन्ता की भी, तो यह उनको दुखा। जी उनका वहाँ न था। वह सेवा में और समर्पण में था। स्पर्द्धा और महत्वाकांक्षा की बीमारी जहाँ इतनी फैली है, वहाँ प्रेमचन्द ऐसा स्वस्थ और एकाकी व्यक्ति कहाँ दीखता है। ऐसा व्यक्ति सौभाग्य है। ऐसाही हमारा सौभाग्य थे, प्रेमचन्द। उनकी वही प्रकृति थी उनका कृतित्व। प्रेमचन्द की कृतियाँ इसी दंभ-शून्य परार्थपरायणता से उज्ज्वल और बलिष्ट हैं।

किन्तु प्रेमचन्द 'हंस' के इतनी अभिन्नता के साथ अपने थे कि यहाँ ज़्यादा कहते जी रुकता है।

हिन्दी में कम पत्र पत्रिकाएँ नहीं हैं। साहित्यिक भी थोड़े नहीं हैं। हिन्दी का दायरा दिन-दिन बढ़ता जाता है। वह रोज़-रोज़ अधिक ही राष्ट्र की भाषा होती जाती है। आज के भारत के सांस्कृतिक विकास की भाषा हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी है। जागृति के लक्षण उसमें हैं और हौसला है। मैं जानता हूँ कि अब वह सोई नहीं है। तब आशा क्यों न हो कि प्रेमचन्द के साहित्य की यथोचित चर्चा होगी, समीक्षा होगी, उसका आदरस्मान होगा ?

ज़्यादा हिंदी को उस बारे में क्या करना है, यह हिंदी जाने। उस भाषा का अपना सम्मेलन है, नागरी प्र० सभा है, नेता-विद्वान् हैं। और 'हंस' वह है जो प्रेमचन्द का अपना था। इस नाते वह मुँह खोले तो कैसे ? मन में जो रक्खे, पर उसे चुप रहना होगा। सम्मेलन-सभा और नेता-विद्वानों में, किन्तु, उसे सांत्वना है। भरोसा वह क्यों खोए ? प्रेमचन्द के नाम और काम के लिए क्या कुछ हिन्दी करेगी, यह भविष्य जानेगा पर हंस को विश्वास है, वह हिन्दी के अयोग्य न होगा।

प्रेमचन्द की भावनाएँ हिन्दी के जीवन में कितनी गहरी गई हैं, कितनी अपनाई गई हैं, यह विद्वान खोजें और बतलावेंगे। विद्वानों से भी अधिक, और उनके बावजूद, समय यह बतलावेगा। समय उनके दान की हार्दिकता और योग्यता आँकेगा ही। समय अचूक है और वह अकृतज्ञ नहीं होता।

प्रेमचन्द-स्मृति-अंक

पर, प्रेमचन्दजी की कृतियों के परिचय और समीक्षा के लिए 'हंस' माध्यम तो है ? माध्यम है, और सत्प्रचारक के नाते प्रचारक भी है। इस दृष्टि से 'हंस' का शीघ्र ही 'प्रेमचन्द-अंक' निकाला जायगा। उनका रचना-काल बाधा, परीक्षा और कर्मण्यता से भरा पड़ा है। कितने सहस्र पृष्ठ लिखे हैं, अभी हिसाब नहीं। जब ठीक हिसाब लगेगा, तब चौंकना पड़ेगा। इतने वह साधना-शील पुरुष थे। तिस पर

न-कुछ से उन्हें साहित्य-सम्राट् बनना पड़ा और वह सब अकेले अपने अध्यवसाय और पुरुषार्थ पर। उसी अथक, अनोखे और प्रिय व्यक्तित्व को सांगोपांग सामने लाने का उस विशेषांक में यत्न किया जायगा। उसके लिए काम बहुत करना होगा। काम कितना ही हो, पर चीज़ प्रामाणिक हो, यही ध्येय है। अगले अंक में उसके निकलने की निश्चित सूचना और योजना पाठकों को मिलेगी।

संकट और लाचारियाँ

'हंस' के संकट का हाल पाठक जानते ही हैं। फिर भी उनसे क्षमा की प्रार्थना भी करनी है। प्रेमचन्दजी की बीमारी तो इधर तीन-चार मास से चली आती थी ; पर उनकी उपस्थिति बड़ा ढाढ़स बँधाती थी। अप्रत्याशित उनका छिन जाना पूरा वज्रपात ही हुआ। इधर उनके जीवन की आस प्रबल हुई कि उधर वह गये। तैयारी कब किसने की थी। पर विधि अतर्क्य। व्यवस्था सब अव्यवस्थित हो गई। कौन क्या करे, क्या देखे-भाले—सब सन्न थे। फिर भी 'हंस' को तो निकालना ही था। स्वर्गीय आत्मा का वही प्रसाद था, वही धरोहर, वही स्मृति थी। सुख-सुविधा पीछे, हंस आगे। दुखदर्द का भोग भी उनके परिजनों को कहाँ मिला—एकदम ऊपर से कर्तव्य आ गया। ऐसे समय यदि हंस ठीक समय पर नहीं निकल सका है, तो कृपालु पाठक क्षमा कर देंगे। अब भी प्रेस की हालत जैसी चाहिए नहीं है। सहयोग भरा-पूरा नहीं है। शिवरानी-देवीजी, और श्रीपतिराय—ये ही दो हैं और ये ही सब हैं। इनको दुख भूल जाना है और काम में जुट जाना है। दुख भूलना अपने आप में छोटा काम नहीं है, तिस पर पत्र का, प्रकाशन का, प्रेस का काम बड़ा है ही। मैं हूँ—सो मैं क्या हूँ ?...इससे पाठक 'हंस' की ओर से कुछ असुविधा मिले तो ले लें और हो सके तो उसे तनिक अपनी अतिरिक्त हार्दिक सहानुभूति दे दें। वही हंस का सम्बल होगा।

प्रस्तुत अंक और आगे की सम्भावनाएँ

जो अंक प्रस्तुत है, वह है। उसका रूप बदला हुआ है। पहले, यानी सितम्बर महीने में उसका पाँच रुपया मूल्य घोषित किया गया था, इस अंक पर छः रुपया है। यह ज़रूरी और उचित समझा गया। आकार-परिवर्तन में पाठक देखें कि आकार छोटा लगे, पर सामग्री का परिमाण उतना ही है। अगले अङ्क से सुपर-रायल अठपेजी साइज हो जाने की सम्भावना है, जो प्रचलित साइज़ से भिन्न होगा और मनोरम होगा। सम्पादिका श्री शिवरानी देवीजी हैं। जैनेन्द्रकुमार का नाम इस सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने चाहा और सूचित किया था। पर जैनेन्द्रकुमार के यदि कुछ अपने मत हैं तो 'हंस' का जीवन तो उन मन्तव्यों के प्रयोग और परी-

लक्षण के लिए नहीं हो सकता। इसलिए जैनेन्द्रकुमार का नाम सम्पादन में नहीं जा सका है।

प्रस्तुत अंक की पाठ्य-सामग्री जैसी इच्छा है वैसी नहीं है। उसमें उन्नति अवश्यम्भावी है। विचारोत्तेजकता रचना की उपादेयता का ज़रूरी लक्षण है। और सब मैटर इसी कसौटी पर कसने पर 'हंस' में जाय, ऐसा विचार है। प्रमुख विचारवान् लेखकों का सहयोग पाने की आशा भी है। ऐसी अवस्था में यह 'हंस' का वचन समझा जाय कि पाठ्य सामग्री 'हंस' की उत्तरोत्तर उन्नत ही होगी।

निवेदन

अन्त में निवेदन है कि 'हंस' का जो बल था, वह छिन गया। वह क़लम उसके पीछे नहीं है। वह क़लम तो अब कहीं ढूँढे भी नहीं पायगी। ऐसी हालत में सहयोग ही 'हंस' का सहारा हो सकता है। पाठक यदि कृपा करें तो दो-दो पाठक और बना सकते हैं। यह वचन 'हंस' की ओर से बंधक के तौर पर लिया जा सकता है कि 'हंस' वह देगा, जो पाठक के लिए पुष्टिकर और हितकर होगा। उसका अस्तित्व, न हो बहुत आकर्षक और सलोना, पर निस्संदेह प्रामाणिक और खरा होगा।

—जैनेन्द्रकुमार

व्यवस्थापक की ओर से—

नीचे उन ग्राहक महानुभावों के ग्राहक नम्बर दिये जा रहे हैं, जिनका वार्षिक मूल्य इस अंक से समाप्त हो गया है। 'हंस' के नये आयोजन के सम्बन्ध में गतांक में जो कुछ लिखा गया था, उसमें वार्षिक मूल्य ५) ही बतलाया गया था; परन्तु अब १२० पृष्ठों के 'हंस' का वार्षिक मूल्य ६) और अर्द्ध वार्षिक ३॥) ही रखा गया है। आगे 'हंस' कितना महत्व-पूर्ण कलात्मक साहित्यिक पत्र हो जायगा—इस विषय में हमें अधिक कुछ नहीं कहना है—इस अंक के सम्पादकीय वक्तव्य से सब कुछ ज्ञात हो जायगा। हमें यही निवेदन करना है कि जिस प्रकार वे अभी तक 'हंस' के ग्राहक बने रह कर हमारे इस साहित्य-सेवा के आयोजन में योग देते आये हैं, उसी प्रकार आगे भी देते रहेंगे। और 'हंस' का आगामी वर्ष का वार्षिक मूल्य ६) तुरन्त ही मनीऑर्डर से भेजने की कृपा करेंगे। जो महानुभाव किसी विशेष कारण-वश ग्राहक नहीं रह सकते हों, वे इनकारी-पत्र अवश्य लिखने का कष्ट उठाएँगे। इनकारी-पत्र न मिलने पर, हमेशा की तरह 'हंस' का नवम्बर का अंक ६≡) की वी० पी० से भेजा जायगा; आशा है, ग्राहक महानुभाव उसे स्वीकार करके हमें उपकृत करेंगे।

२—लेखकों से विनय है कि वे अपनी रचनाएँ काग़ज़ के एक ही ओर साफ़-साफ़ लिखकर भेजें। अच्छी रचनाओं पर पुरस्कार देने की व्यवस्था की गई है। पुरस्कारार्थ लेखों पर यह बात स्पष्टतया लिखी रहना चाहिए। कहानियों को विशेष स्थान दिया जायगा। लेखकों को अपनी रचना के साथ अपना पूरा पता लिखना चाहिए जिसमें उनकी रचना प्रकाशित होने पर वह अंक उनकी सेवा में भेजा जा सके। साथ ही यदि वे अस्वीकृत होने पर अपनी रचना वापस चाहते हैं, तो उन्हें डाक-खर्च भी भेजना चाहिए।

३—ग्राहक-संख्या अक्तूबर से बिलकुल बदल गई है। ग्राहकों को चाहिए कि वे अपनी ग्राहक-संख्या याद रखें और पत्र-व्यवहार के समय ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें अन्यथा यदि उत्तर में विलम्ब हो, तो हमें दोषी न ठहराएँ।

विनीत,

व्यवस्थापक 'हंस'

२७४३,	२७३४,	२७४५,	२७५३,	२७६३,	२७९२,
२७९३,	२७९४,	२८५१,	२८५४,	२८८९,	२८९०,
२९१३,	२९१९,	२९२०,	२९२९,	२९३०,	२९३४,
२९३९,	२९५२,	२९५८,	२९६३,	२९८२,	२९८३,
२९९३,	२९९५,	३०११,	३०२१,	३०२४,	३०४६,
३०४७,	३०६७,	३०७०,	३०७६,	३१७७,	३२३१,

मुद्रक तथा प्रकाशक—पं० गुरुराम विश्वकर्मा, 'साहित्यरत्न', सरस्वती-प्रेस, बनारस कैंट।

श्रीशारदा

विविध-विषय-विभूषित त्रैमासिक पत्रिका

माघ, १९८१

वर्ष १] [अङ्क ४

"गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः"—भारवि

सम्पादक—द्वारकाप्रसाद मिश्र

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर, से प्रकाशित

वार्षिक मूल्य ६)] [प्रति संख्या ।≈)

लेख-सूची

